प्रकाशक :
अ० वा० सहस्रबुद्धे,
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ,
वर्धा (म० प्र०)

(संशोधित और परिवर्धित संस्करण)
दूसरी बार : २०,०००
कुल प्रतियाँ : २५,०००
अगस्त, १९५५
मूल्य : छह आना

मुद्रक
विश्वनाथ भार्गव,
मनोहर प्रेस,
जतनबर, बनारस

प्रस्तावना



आचार्य विनोबा भावे द्वारा प्रवर्तित भूदान-यज्ञ ने आज सर्व भारतीय दृष्टि को आकृष्ट कर लिया है। केवल भारत ही नहीं, सारे विश्व की नजर इस आन्दोलन पर है। दो साल पहले, जब विनोबाजी सेवाग्राम से दिल्ली के लिए रवाना हुए, तब कौन जानता था कि यह यात्रा एक 'विश्व-क्रान्ति' का रूप ले लेगी। केवल विरोधी ही नहीं, साथियों का भी कहना था कि तेलगाना मे जो जमीन मिली, वह एक विशिष्ट परिस्थिति के दबाव के ही कारण मिली थी। दूसरे प्रदेशों में जमीन दान में नहीं मिल सकेगी। अगर मिलेगी भी, तो जैसे भारत मे साधु-सन्तों को दान देने की सनातन परिपाटी है उसीके अनुसार हजार-पाँच सौ एकड जमीन भले ही दान में मिल जाय। लेकिन विनोबाजी, जो कहते हैं कि वे इस आन्दोलन द्वारा भूमि-समस्या हल करना चाहते हैं, उसकी सिद्धि में इस यात्रा का कोई महत्त्व नही है।

विश्व-क्रान्ति का स्वरूप

धीरे-धीरे लोगों ने देखा कि भूमि का दान मिल रहा है और वह सनातन परिपाटी के परिणामस्वरूप नहीं, बल्कि विशेप व्यापकता के साथ। फिर भी लोगों में शका बनी ही रही कि इस आन्दोलन का कोई नतीजा निकलेगा या नही। लेकिन चार साल मे आज सारी दुनिया आन्दोलन की प्रगति देखकर आश्चर्यचकित है। सतों के सामान्य दान के रूप मे सोचने की शुरुआत से लोगों ने इसे इस युग के एक बहुमत-व्यापक परोपकारी कार्यक्रम के रूप मे देखा। लेकिन आखिर उन्हें मालूम हो गया कि यह एक विश्वक्राति है।

क्रान्ति क्या है ?

समालोचकों का कहना है कि 'क्रान्ति' शब्द का एक फैशन बन गया है। कोई थोड़ा-सा भी काम करता है तो सोचता है कि मैं क्रान्ति कर रहा हूँ। इसी तरह से संत विनोबा भी सोच रहे हैं। आखिर वे समालोचक किसे क्रान्ति कहते हैं? क्या धुआँधार संघर्ष हो या खून की नदियाँ बहें तभी समझा जायगा कि क्रान्ति हो रही है? अगर ऐसी बात है तो संसार में दो राजाओं का युद्ध, साम्प्रदायिक दंगा आदि सभी क्रान्ति हैं।

क्रान्ति की पहचान

क्रान्ति की पहचान बतलाते हुए आचार्य कृपालानी कहते हैं—"क्रान्ति की सबसे बड़ी पहचान यह है कि एक मामूली कार्यकर्ता भी इसके प्रवाह और प्रेरणा से वह काम सम्पादित कर सकता है, जो उससे कहीं योग्य व्यक्ति दूसरी तरह कहीं भी नहीं कर पाते।" राष्ट्रीय नेताओं के लिए यह बहुत कठिन था कि वे लोगों को भूमि से अलग होने के लिए राजी करते। लेकिन आज लोग उन मामूली नवयुवकों और युवतियों को जमीन दे रहे हैं, जिन्होंने इस काम को विनोबाजी की प्रेरणा से अपनाया और जो इससे पहले राष्ट्र के सार्वजनिक जीवन में अज्ञात थे, बल्कि जिनमें से कुछ अभी बालिग भी नहीं हुए हैं। वस्तुतः क्रान्ति की एक बड़ी पहचान यह है कि आबाल-वृद्ध, वनिता उसमें पूरी शक्ति और निष्ठा के साथ लग जाते हैं।

समालोचक चाहे जो कहें, आज दुनिया की जनता यह महसूस कर रही है कि 'भूमिदान यज्ञ' एक महान् क्रान्ति है, जिसका असर सिर्फ भूमिपतियों तथा भूमिहीन मजदूरों पर ही नहीं, बल्कि दुनिया के सारे जीवन-दर्शन, प्रचलित धारणाओं तथा मूल्यांकन पर पड़ने लगा है।

भूदान आन्दोलन धर्म-चक्र-प्रवर्तन

आचार्य विनोबा भावे ने अपने आंदोलन को 'धर्म चक्र प्रवर्तन'

कहा है। उनका कहना है : "सामान्य धर्म-प्रचार और क्रांति या 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' ये दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। सामान्य धर्म तो ऋषि और संत लोग हमेशा समझाते रहते है। इसलिए सर्वसामान्य धर्म-प्रचार एक बात है और जमाने की मॉग क्या है, यह पहचान कर धर्म-विचार उसके साथ जोड देना दूसरी बात है। संत और ऋषि मामूली धर्म-प्रचार तो हमेशा करते रहते है, परन्तु उससे धर्म-चक्र-प्रवर्तन नही होता। जहाँ परिस्थिति के साथ धर्म-भावना जुड जाती है, वहाँ वह लोगों के दिल को छूती है। इससे बडी शान्ति पैदा होती है और इसीसे धर्म-चक्र-प्रवर्तन होता है।" अर्थात् धर्म-प्रचार से सुधार और धर्म-चक्र-प्रवर्तन से क्रांति होती है।

जमाने की मॉग

वस्तुतः जमाने की मॉग क्रांति की पुकार हुआ करती है। युग-युग में हमेशा ऐसे जमाने आते रहे हैं, जिस समय समाज का सारा ढाँचा तोडकर नया ढाँचा बनाना अनिवार्य हो गया है। ऐसे जमाने में सामाजिक क्रांति की आवश्यकता होती है। मानव-समाज के लिए महान् कल्याणकारी समाज-पद्धति भी काल-क्रम में महान् विनाशकारी पद्धति बन सकती है। ऐसी दशा में सारे समाज से एक सहज पुकार उस पद्धति को तोडकर नयी पद्धति कायम करने की होती है। उसीको जमाने की माँग या क्रांतिकारी परिस्थिति कहते हैं।

परिवर्तन की प्रक्रिया

एक सामान्य मिसाल से क्रांति की आवश्यकता स्पष्ट रूप से समझ मे आ जायगी। मान लें कि किसी समय एक परिवार ने अपनी सुख-सुविधा और सुरक्षा के लिए विचारपूर्वक अत्यन्त सुविधाजनक मकान बनाया। क्रमशः स्थिति में दो प्रकार का परिवर्तन हुआ। काल-क्रम से पुराना होने के कारण मकान की ईंट मे लोनी लगी, लकडी आदि सामग्री सडी और पीढी-दर-पीढी पारिवारिक परिस्थिति में हेर-फेर हुआ।

शुरु शुरू में लोग काफी दिनों तक मकान की मरम्मत करते रहे और पारिवारिक स्थिति के बदलाव के साथ-साथ मकान की स्थिति में भी रद्दोबदल करते रहे। आखिर एक समय ऐसा आया कि सडन के कारण घर टूटकर गिरने लगा। रहनेवालो की जान को खतरा हुआ। रद्दोबदल करते-करते उसकी हालत ऐसी हो गयी कि नयी परिस्थिति मे उसके अन्दर गुजारा करना असभव हो गया। ऐसी हालत में लोग उस मकान को गिराकर नया मकान बनाते हैं, क्योंकि अब उसमे सुधार या मरम्मत की कोई गुजाइश नहीं रह जाती।

समाज के मूल्यांकनों में क्राति

इसी तरह मनुष्य के कल्याण के लिए समाज का कुछ ढाँचा बनाया जाता है। तात्कालिक परिस्थिति के अनुसार कुछ धारणाएँ बनती है तथा वस्तुओं का मूल्याकन किया जाता है। यह सब इसलिए होता है कि मानव-समाज सुख और शाति से जीवन बिता सके। समय पाकर इन सबके रूढि बन जाने से इस ढाँचे मे तथा धारणा और मूल्याकन में विकृति पैदा होती है। दूसरी ओर सतत परिवर्तनशील प्रकृति के प्रभाव से समाज की परिस्थितियों का निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। दोनो मिलकर ऐसी स्थिति पैदा करते है जिससे समाज का पुराना ढाँचा, जीवन की धारणाएँ तथा मूल्याकन मौजूदा बदली हुई स्थिति मे सुखकारी न होकर सकटकारी हो जाते है। ऐसे सकट से त्रस्त होकर समाज की अन्तरात्मा एक मामूली परिवर्तन की पुकार करती है। सारे समाज की अन्तरात्मा की पुकार टल नहीं सकती। यही पुकार मूर्तिमान् होकर क्राति का रूप लेती है।

भू-दान की सही भूमिका

अतएव भूमिदान यज्ञ पर एक क्रातिकारी आदोलन की पृष्ठ-भूमि मे विचार करना होगा। विनोबाजी ने कहा है कि धर्म-विचार जब जमाने की माँग के साथ जुडा हुआ होता है, तब क्राति यानी धर्म-चक्र-प्रवर्तन

हो जाता है। हर क्रांति की द्रुत प्रगति भी इसी कारण हुआ करती है, क्योंकि जमाने की माँग के कारण सारे मानव-समाज की दृष्टि ऐसे आंदोलन की ओर सहज खिंच जाती है। लेकिन जहाँ यह बात क्रांति को प्रगति देने के लिए एक शक्ति है वहाँ यही बात उसी क्रांति के लिए खतरा भी है। इसलिए जरूरी है कि भूमिदान-आंदोलन में कार्यकर्ता अपने काम के साथ क्रांति पर के खतरे के बारे में निरन्तर जाग्रत रहें।

रूढ़ि

शुरू-शुरू में कोई क्रांतिकारी द्रष्टा जमाने की माँग को पहचान कर उसे पूरा करने का एक मार्ग उपस्थित करता है। प्रकृति के निरन्तर प्रगतिशील होने के कारण क्रांतिकारी मार्ग हमेशा नया होता है और उसकी मिसाल इतिहास में नहीं हुआ करती। यही कारण है कि जब क्रांतिकारी पुरुष नयी बातें करते हैं, तब यद्यपि साधारण जनता उसे समझ लेती है, पर पढ़े-लिखे विद्वानों को उनकी बातें नहीं भातीं; क्योंकि पंडितों की बुद्धि प्रायः शास्त्रों की जिल्द के अन्दर गिरफ्तार रहती है और वे अपनी किताबों में लिखे हुए सूत्र के अनुसार ही बातें समझ पाते हैं। इसलिए वे प्रारम्भ में क्रांतिकारी की बातों की हँसी उड़ाते हैं, दूसरी ओर क्रांति के जमाने की माँग का सही पूरक होने के कारण जनसाधारण का दिल सहज ही उसकी ओर दौड़ता है। लेकिन प्रकृति से रूढ़िग्रस्त होने के कारण उनकी बुद्धि साधारणतः पंडितों की ओर ही झुकती रहती है।

क्रान्ति-द्रष्टा की गति

इस प्रकार क्रांतिकारी पुरुष शुरू-शुरू में समाज में साधारण जनता के दिल को आकृष्ट करते हुए भी अकेला ही चलता है। लेकिन दिल साथ होने के कारण जल्दी ही वह जनता को अपनी ओर खींचकर उसे क्रांतिकारी मार्ग पर चलाने लगता है। फिर वह प्रगति जब व्यापक हो जाती है, तो पढ़े-लिखे विद्वानों की भी दृष्टि आकृष्ट होती है। उनमें से दो-एक ऐसे भी होते हैं जो जमाने की समस्याओं के समाधान के लिए

अपने पाडित्य की असारता महसूस कर नयी क्राति की बात समझने लगते और उस क्रातिकारी द्रष्टा के भक्त बन जाते हैं। भक्त बनने पर भी उन्हें सारी बातों को अपनी किताबी भाषा में अनुवाद करके ही सोचना पडता है। सिर्फ अपने ही सोचने के लिए नहीं, बल्कि अपनी विद्वान् बिरादरी को समझाने के लिए भी वे पुरानी किताबों के पन्नों मे ही नयी क्राति की बात ढूँढने लगते है। विद्वानो के लिए ऐसी चेष्टा क्राति के लिए प्रथम खतरा है।

गांधीजी की प्रवृत्तियाँ

गाधीजी ने मानव-समाज को शोषण तथा निर्दलन से बचाने के लिए चर्खे का सन्देश सुनाया। वे चर्खे के माध्यम से स्वावलम्बी आर्थिक व्यवस्था कायम करना चाहते थे, क्योंकि वे समझते थे कि जब तक स्वतन्त्र जनशक्ति के आधार पर मानव-जीवन स्वावलम्बी नहीं होगा, तब तक मनुष्य को वास्तविक आजादी नहीं मिल सकती। यह स्वावलम्बी आर्थिक व्यवस्था एक नयी बात थी। गाधीजी के आदोलन की विराट् प्रगति ने जिन बहुत से विद्वानो को उनका भक्त बना दिया था उन्होंने स्वभावत. पुरानी किताबो के पन्नों पर गाधीजी की बातों को ढूँढने की कोशिश का। किताबों में भारत की अति प्राचीनकालीन स्वावलम्बी समाज की बात जरूर पायी जाती है। लेकिन आधुनिक पडितजन उस स्थिति को मजबूरी का नतीजा मात्र समझकर उसे अवैज्ञानिक तथा प्रतिगामी मानने लगते है। इसलिए वह बात उन्हें भाती नहीं। आधुनिक किताबो मे ढूँढते हुए उन्हें विकेंद्रीकरण का एक शब्द मिला और उन्होंने इसे पढी-लिखी दुनिया मे प्रसिद्ध किया।

गाधीजी ने स्वावलम्बी समाज की बात दुनिया मे मौलिक लोकतन्त्र कायम करने के लिए ही की थी। लेकिन किताबो की समाज की विकेंद्रीकरण की धारणा वहाँ तक कैसे पहुँच सकती है? यही कारण है कि यद्यपि अमेरिका के हेनरी फोर्ड तथा फासिस्ट जापान के नेता विकेंद्रीकरण की बात करते रहे और जापान मे उसका व्यापक अमल होता रहा, फिर

भी उन मुल्कों मे गाधीजी की धारणा के अनुसार लोकतत्र कायम होने की क्राति न होकर दिन-दिन तानाशाही का ही सगठन होता गया। भारत में भी करीब-करीब वही हुआ। गाधीजी के अनुयायियों द्वारा स्वावलबी समाज-व्यवस्था के सिद्धात का आग्रह छोडकर विकेंद्रीकरण की बात करने के कारण जन-स्वावलंबन के आधार पर सच्चे लोकतत्र के रूप मे ग्रामराज्य कायम न होकर एक विराट् केंद्रित सत्ता के नीचे सारी प्रजा दबती जा रही है। यह सही है कि हम लोग लोककल्याणकारी राज्य (वेलफेयर स्टेट) की बात करते और सोचते हैं कि इसीसे सच्चा गणराज्य होगा। लेकिन तानाशाही सरकार भी तो लोककल्याणकारी हो सकती है, बल्कि लोक-कल्याणकारी होने के कारण ही प्रारम्भ में जनता तानाशाही को स्वीकार भी करती है। इस तरह किताबो के सूत्र में नयी क्राति की बात ढूँढने की चेष्टा से क्राति विपथगामी हो सकती है। उसकी मिसाल हमने अभी-अभी भारतीय आदोलन मे देखी।

भूमिदान पुनर्विभाजन नहीं

उसी तरह विनोबाजी ने भूमिदान-यज्ञ आदोलन चलाया और विद्वानों ने जब इसमे क्रातिकारी स्वरूप को देख लिया तब वे पुरानी प्रचलित किताबों के पन्नों को पढकर इसे भूमि के पुनर्विभाजन के रूप में समझने लगे। यह समझने की आवश्यकता है कि जैसे विकेंद्रीकरण-मात्र से गाधीजी का स्वावलम्बन नहीं होता उसी तरह भूमि के पुनर्विभाजन-मात्र से ही विनोबाजी का भूमिदान-यज्ञ नहीं होता। भूमि का वितरण तो जापान और चीन मे भी हुआ है, लेकिन क्या वहाँ भूमिदान-यज्ञ के उद्देश्य के अनुसार सर्वोदय समाज यानी शासन-मुक्त तथा शोषण-रहित जनतंत्र कायम हो सका है? वहाँ तो उत्कट तानाशाही का ही सगठन हुआ है। अगर भूमिदान-यज्ञ को केवल भूमि-वितरण के ही रूप में देखा जाय और उसी दिशा में कार्यकर्ता आगे बढ़ें, तो क्या भारत में भी तानाशाही का खतरा नहीं आ सकता?

स्वराज्य आन्दोलन में हमारी भूल

मैंने शुरू में कहा है कि इस यज्ञ के प्रति सारे भारत की दृष्टि आकृष्ट हुई है। केवल आकृष्ट ही नहीं हुई, बल्कि सभी श्रेणियों और सभी दलों के लोग इस आंदोलन में शामिल हो रहे हैं। यज्ञ की यह एक बहुत बड़ी शक्ति है। लेकिन जैसा कि मैंने पहले भी कहा है, जहाँ यह एक शक्ति है, वहाँ यह एक खतरे का कारण भी हो सकती है। गांधीजी ने स्वराज्य का आन्दोलन चलाया। वे कहते रहे कि अंग्रेजी राज्य को हटाना स्वराज्य का पहला काम है। गांधीजी की वह पुकार उस समय जमाने की मॉंग के अनुसार ही थी। सब चाहते थे कि अंग्रेज हटें, चाहे अंग्रेज हटने के बाद स्वराज्य के बारे में उनकी कुछ भी धारणा या राय रही हो। अतः उस समय सभी श्रेणी के और सभी राय के लोग गांधीजी के आंदोलन में शामिल हुए। उसमें पूँजीपति आये, शुद्ध राष्ट्रवादी आये, सामन्तवादी, गांधीवादी, मार्क्सवादी, सम्प्रदायवादी—सभी आये और सबने मिलकर अंग्रेजी राज्य को हटाने का काम किया।

ढाँचा ज्यों का त्यों

अंग्रेजी राज्य हटा, लेकिन मुल्क का राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचा ज्यों का त्यों बना रहा। गांधीजी का स्वराज्य नहीं हुआ। विदेशी राज्य की जगह पर एक स्वदेशी राज्य होकर रह गया है। ऐसा क्यों हुआ? इस पर विचार करना चाहिए, ताकि भूमिदान यज्ञ पर के दूसरे खतरों के बारे में स्पष्ट धारणा हो सके। शुरू से ही स्वराज्य के बारे में गांधीजी की स्पष्ट धारणा थी और वे समय-समय पर उसका स्पष्टीकरण भी करते रहे, लेकिन उनके भक्तों और अनुयायियों ने उनकी मूल क्रांति पर गहराई के साथ विचार और विवेचन नहीं किया। वे सब एक रूखे झोंके से अंग्रेजों को हटाने के काम में संलग्न रहे। वे समझते रहे कि उनके जितने भी साथी हैं, सभी एक ही लक्ष्य के यात्री हैं। नतीजा यह हुआ कि उनके विचार धूमिल रह गये। यह सही है कि

गाधीजी रचनात्मक कार्यक्रम और संस्था के जरिये अपनी क्राति की नीव डालने की चेष्टा करते रहे, लेकिन हम रचनात्मक काम करनेवाले इन कार्यक्रमों को क्राति की बुनियाद न समझकर राजनैतिक संघर्ष के उद्देश्य से जनसम्पर्क साधने का एक सक्रिय साधन मानते रहे। हममें से कुछ उसे जनहित का कार्यक्रम-मात्र ही समझते रहे। नतीजा यह हुआ कि अंग्रेजों के जाने के बाद हमारे उन साथियो ने, जो प्रतिक्रियावादी थे तथा जिनकी नीयत और उद्देश्य अपने ढग के स्पष्ट थे, परिस्थिति पर कब्जा कर लिया और उन राष्ट्रवादी सेवकों पर, जिनकी दृष्टि धूमिल थी, हावी हो गये। हम भी, उनके द्वारा क्राति सधेगी, यह समझकर निश्चेष्ट रहे।

फिर जब हमने देखा कि हमारे वे साथी—जिन्हें हम अपने स्वधर्मी समझते थे, लेकिन जिनके सिद्धात, धारणा तथा दृष्टि वस्तुतः पृथक् थी—हमारी धारणा के अनुसार मुल्क के राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचों मे आमूल परिवर्तन न कर पुराने ढाँचे को ही सचालित कर रहे हैं, तो हम उनकी शिकायत करने लगे। लेकिन शिकायत का कोई कारण नहीं था। वह स्वाभाविक था। क्रातिकारी जब आदोलन चलाता है और आदोलन के शुरू में जब ऐसा कार्यक्रम लेना पडता है, जिसको करने के लिए हर तबके के लोगों का आग्रह होता है, तो वह सबके साथ सयुक्त मोर्चा बनाता है। लेकिन ऐसी हालत में उसे निरन्तर जाग्रत रहना पड़ता है, ताकि उसकी क्राति की धारणा धुनिल होकर वह प्रतिक्रातिकारी शक्ति के हाथ में न चली जाय। हमने स्वराज्य के क्रातिकारी आदोलन के समय ऐसी चौकसी नहीं रखी। इसलिए आज मुल्क पर प्रतिक्रियावादी शक्ति हावी हो गयी।

भूमिदान में सावधानी

जिस तरह गाधीजी ने स्वराज्य के बारे मे स्पष्ट धारणा मुल्क के सामने रखते हुए भी, पहले देश का सारा ध्यान विदेशी राज्य हटाने पर केंद्रित करने को कहा, और ऐसा कहना एक व्यावहारिक क्रातिकारी के

लिए स्वाभाविक भी था, उसी तरह आज विनोबाजी भी अपनी आर्थिक तथा सामाजिक क्रांति की स्पष्ट धारणा देश के सामने रखने पर भी पहले भूमि-प्राप्ति तथा भूमि-वितरण के काम में सारी शक्ति केंद्रित करने के लिए 'एकहि साधे सब सधे' की बात कह रहे हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि जब तक पहला कदम जम न जाय तब तक आगे का कदम उठाना कठिन है। और बहुमुखी कार्यक्रम चलाने से शक्ति बिखरकर क्रांति में कमजोरी आ सकती है। लेकिन आज अगर विनोबाजी की क्रांतिकारी धारणा के अनुसार भविष्य की समाज-रचना के सिद्धांत को माननेवाले कार्यकर्ता आगे का कदम तथा भावी राष्ट्र-निर्माण के बारे में उसी तरह से विचार तथा विवेचन किये बिना केवल भूमि-दान की ही बात सोचते रहेंगे, जिस तरह हम स्वराज्य आंदोलन के समय सोचते रहे, तो इस बार भी हम चूकेंगे और एक बार और प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ संगठित होकर हमारी क्रांति को उल्टे रास्ते ले जायँगी।

जिस प्रकार अंग्रेजों को हटाना कई प्रकार के लोगों के लिए इष्ट था, उसी प्रकार भूमि का पुनर्विभाजन भी कई सिद्धांत, दृष्टि तथा नीयतवालों के लिए भी इष्ट हो सकता है। जमींदारी प्रथा सामन्तवादी प्रथा का ही भग्नावशेष है। हमने इतिहास में देखा है कि सामंतवाद को खत्म करनेवाले पूँजीवादी ही थे। आज भी पूँजीवादी जमींदारी-प्रथा को खत्म ही करना चाहते हैं, क्योंकि जमींदारों के रहते भूमि पर पैदा हुए कच्चे मालों पर सीधा अपना ही नियंत्रण रखने में उन्हें दिक्कत हो सकती है। इसलिए वे भूमि-दान यज्ञ में शामिल हो सकते हैं। चीन के कम्युनिस्ट तानाशाही राज्य-व्यवस्था को ही मानते हैं, लेकिन उन्होंने भूमि का पुनर्विभाजन किया अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही। अतः इस देश के कम्युनिस्ट अपने पार्टी-हित की दृष्टि से चाहे इस यज्ञ से भले ही घबरायें, लेकिन सिद्धांत की दृष्टि से वे भी इस पुनर्विभाजन-कार्य में शामिल हो सकते हैं। ऐसे भी धारी लोग हो सकते हैं जो औद्योगिक केन्द्रीकरण को मानते हुए भी

देहाती गरीबी की राहत की दृष्टि से भूमि के पुनर्विभाजन के कार्यक्रम में शामिल होंगे। जातीयतावादी तथा सम्प्रदायवादी भी भूमि-वितरण के साथ हो सकते हैं। ऐसे जातीयतावादी 'शोषित-दल' आदि नामों से सगठित हो भी रहे है। आज जनसंघ आदि साम्प्रदायिक प्रतिक्रियावादी भी इसके साथ हैं। जनरल मैकआर्थर कोई सर्वोदयवादी तो नहीं हैं, लेकिन उन्होंने भी तो जापान मे भूमि का पुनर्विभाजन किया।

इस तरह जहाँ एक ओर कोई नया धर्मविचार जमाने की माँग के साथ जुडा न होने से वह सामान्य ऋषि-वाक्य होकर कुछ विवेकी पुरुषों का व्यक्तिगत आचारमात्र ही रह जाता है, उसमें आम जनता के शामिल न होने के कारण उस विचार मे कोई शक्ति नही रहती, वहाँ दूसरी ओर हर किस्म के लोगों के शामिल होने के कारण क्रांति की दृष्टि धूमिल होने की सभावना रहती है। इसलिए मैंने कहा है कि जमाने की माँग के साथ एकरसता जहाँ क्राति के लिए एक शक्ति है, वहाँ वही बात उसके लिए खतरा भी हो सकती है। अतएव जो लोग इसे क्रातिकारी आन्दोलन के रूप मे देखते है, उन्हें यज्ञ के मौलिक आधार के बारे मे विचार करना होगा। इस विचार का प्रचार मुल्कभर में करना होगा, ताकि देश की दृष्टि साफ हो सके।

दंड-शक्ति

विनोबाजी भूमिदान-आदोलन को अहिंसक समाज-रचना का पहला कदम कहते हैं। अहिंसक समाज का मतलब है, हिंसा-रहित समाज। अतः हमें मूलतः समाज से हिसा हटाने की बात सोचनी होगी। लेकिन हिंसा स्वतः कोई चीज नहीं है, वह शोषण-वृत्ति का नतीजा है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करना चाहता है और अगर वह निर्विरोध शोषण करने में सफल होता है, तो वह ख्वाहमख्वाह हिंसा नहीं करता। एक मुल्क दूसरे मुल्क का शोषण करना चाहता है और निर्विरोध शोषण करने

मे समर्थ होता है तो ख्वाहमख्वाह युद्ध नहीं छेडता। इस तरह हम देखेंगे कि साधारणत. शोषण की वृत्ति से ही हिंसा की शुरुआत होती है।

अतएव अहिंसक समाज-रचना के लिए शोषण-हीन समाज-रचना की आवश्यकता है। प्रश्न यह है कि शोषण होता किस चीज का है? साधारणत. श्रम का यानी शरीर का शोषण ही शोषण माना जाता है। अर्थात् लोग यह मानते है कि हिंसा केवल शरीर पर होती है। लेकिन मनुष्य का केवल शरीर ही नहीं होता। उसमें आत्मा भी होती है। अत विचार करने की आवश्यकता है कि शरीर के साथ-साथ आत्मा पर भी शोषण हो सकता है।

मनुष्य की आत्मा पर हिंसा उसकी आजादी छीनने से होती है। वस्तुत मनुष्य की आजादी छीननेवाला सबसे बडा यन्त्र शासन होता है, अर्थात् शासन यन्त्र मनुष्य की आत्मा पर हिंसा का कारण होता है, क्योंकि किसी व्यक्ति पर जिस हद तक शासन का दड रहेगा, उस हद तक उसकी आत्मा कुठित रहेगी। अत. अहिंसक समाज-रचना के लिए प्रथम आवश्यकता इस बात की है कि दुनिया में दड-हीन समाज यानी स्वराज्य कायम हो।

वस्तुत दुनिया की आज की मुख्य समस्या स्वराज्य की समस्या है। साम्यवादी, फासिस्टवादी, लोकतन्त्रवादी—किसी भी नाम से पुकारा जाय, आज की दुनिया के हर मुल्क में उत्कट तानाशाही ही चल रही है। वास्तविक लोकशाही का अस्तित्व कहीं नहीं दिखाई देता। जहाँ कहीं 'जनतन्त्र' का नाम है, वहाँ भी जनता की वैसी ही हालत है जैसे कि कचहरी मे अपने 'हक' की 'डिग्री' पाते हुए भी किसी किसान को अपनी जमीन का कब्जा न मिला हो।

प्रागैतिहासिक युग में

मानव-इतिहास के प्रथम युग मे मानव झुड मे रहते थे। सहयोगिता के आधार पर जिन्दगी का साधन पैदा करके स्वच्छद विचरते थे। क्रमश

समाज मे प्रतियोगिता और उसके फलस्वरूप सघर्ष पैदा हुआ। स्वच्छंद समाज के इस सघर्ष ने धीरे-धीरे मानव-समाज के अस्तित्व को ही खतरे मे डाल दिया। अस्तित्व कायम रखना प्रकृति की मूल-वृत्ति होने के कारण मनुष्य अपने अस्तित्व का खतरा बर्दाश्त नहीं कर सकता था। वह इस स्थिति से निकलने का उपाय सोचने लगा।

विभिन्न शक्तियों की विकास-क्रांति

पुराणो की कथा के अनुसार मनुष्य आपसी सघर्ष से परेशान होकर आत्मरक्षा की नीयत से ब्रह्मा के पास पहुँचा। ब्रह्मा ने मनुष्य पर कृपा करके उन पर राज्य करने के लिए मनु को ससार में भेज दिया, जिससे वह सघर्ष की चौकीदारी कर सके। इस तरह ससार में प्रतिद्वद्विता के बीज से राजदड की सृष्टि हुई। सघर्षकाल के लिए एक मध्यस्थ के रूप में उन्हें अपनी जिम्मेदारी सुचारु रूप से चलाने के लिए सैनिक शक्ति की सृष्टि करनी पडी। सैनिक-बल से पुष्टि पाकर धीरे-धीरे दडशक्ति अधिकतर सगठित और बलशाली होने लगी। नतीजा यह हुआ कि यह शक्ति क्रमशः जनशक्ति पर हावी होती गयी। जनता भी सहूलियत के मोह से अपनी व्यवस्था और सचालन के लिए उसी राजदड पर भरोसा करने लगी। जनता की इस कमजोरी का फायदा उठाकर दड-शक्ति उस पर सिर्फ हावी ही नहीं हुई, बल्कि उसका निर्दलन भी करने लगी।

इस प्रकार एक मध्यस्थ के रूप में जन्म लेकर राजशक्ति यानी दड-शक्ति जन-स्वतन्त्रता का निर्दलन करके संसार पर अपनी सत्ता कायम करने लगी। मनुष्य इस स्थिति से फिर परेशान हुआ। जिस शक्ति को उसने अपना रक्षक मानकर पैदा किया था, वही शक्ति उसकी भक्षक होकर उसकी आजादी भी छीनने लगी। फिर से मानव-समाज ने इस स्थिति मे से अपने को निकालना चाहा और दुनिया में राजतत्र को खत्म करके लोकतत्र कायम करने के लिए एक महान् क्रांति की। हमने देखा कि फ्रास मे एक

विराट् विस्फोट हुआ और सारी दुनिया में वह फैल गया। दुनिया से राजतन्त्र खत्म हो गया।

इस क्रांति की चेष्टा में मनुष्य ने एक महान् भूल की। उसने राजाओं को खत्म किया, लेकिन वे जिस दंड-शक्ति के मालिक थे, उसकी आवश्यकता को खत्म नहीं किया। सिर्फ राजा के हाथ से उसे छीनकर पार्लियामेंट के नाम से जनता के प्रतिनिधियों की संस्था बनाकर उसके हाथ में सौंप दिया और सोचा कि अब हमारे अपने आदमी के हाथ में दंड है, इसलिए कोई खतरा नहीं। देहात में एक कहावत है, "सैयाँ भये कोतवाल अब डर काहे का।" अर्थात् अब चैन से सोया जा सकता है। जनता भी प्रतिनिधियों को चुनकर चैन से सो गयी। किन्तु 'प्रभुता पाय काहि मद नाहीं' इस तत्त्व को वह भूल गयी। निश्चित जनता की सुव्यवस्था और सञ्चालन के बहाने ये नये दंड-धारी अपनी विशाल शक्ति को लेकर जन-जीवन के अधिक-से-अधिक हिस्से पर कब्जा करने लगे। नतीजा यह हुआ कि राजतन्त्र के समय से लोकतन्त्र में जनता पर दंड का दखल बढ़ता गया यानी उसकी आजादी घटती गयी। अर्थात् उसकी आत्मा अधिक कुंठित और निर्दलित होने लगी।

आर्थिक क्रांति

जिस समय संसार में यह राजनैतिक क्रांति चल रही थी, ठीक उसी समय आर्थिक क्षेत्र में एक महान् क्रांति हुई। 'जेम्स वाट' द्वारा वाष्प-शक्ति के आविष्कार के साथ-साथ आर्थिक उत्पादन के तरीके में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। पहले दस्तकार अपने छोटे-छोटे औजार लेकर स्वतन्त्रता-पूर्वक जिन्दगी के साधन पैदा करते थे, उनका उपभोग करते थे और अतिरिक्त सामान स्वतन्त्र रूप से बेचकर अपनी दूसरी आवश्यकताओं की भी पूर्ति कर लेते थे। उत्पादन की प्रक्रिया बदलकर केंद्रित हो जाने के कारण सारी जनता का आर्थिक-निःशस्त्रीकरण हो गया। वह अब स्वतन्त्र रूप से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकती थी। उसे

जिन्दा रहने के लिए अब पूर्ण रूप से कारखाने या पूँजीपति का भरोसा करना पड़ा। आर्थिक जिन्दगी पर कब्जा करने के कारण इन पूँजीपतियों ने स्वभावतः राजदंड पर भी अपना कब्जा जमा लिया। नतीजा यह हुआ कि एक ही हाथ में दंड-शक्ति और उत्पादन-शक्ति दोनों होने के कारण वे जनता का अधिक शोषण करने लगे। यह शोषण सिर्फ आत्मा तक ही मर्यादित न होकर शरीर का भी होने लगा, क्योंकि अपनी स्वतंत्रता से उत्पादन न कर सकने के कारण उत्पादक श्रमिकों को अपना श्रम कारखानेदारों के हाथ में बेचने पर मजबूर होना पड़ा। श्रमिकों की मजबूरी से पूँजीपति उसका नाजायज फायदा भी उठाने लगे।

इस तरह पूँजीवादी लोकतंत्र में जनता की हालत राजतंत्र से भी अधिक खराब हो गयी, क्योंकि राजतंत्र में जहाँ जनता की आत्मा ही कुंठित होती थी, वहाँ लोकतंत्र में जनता के शरीर और आत्मा, दोनों का शोषण होने लगा, सो भी पहले से अधिक पैमाने पर। इससे भी ऊब-कर मनुष्य ने बाद में जो क्रांति की, उससे उसकी आत्मा और अधिक कुंठित हो गयी। पहले जिस तरह राजाओं को हटाकर राजदंड को पार्लिया-मेंट के हाथ में डाल दिया, उसी तरह अब केवल राजदंड ही नहीं, बल्कि उत्पादन-यंत्र भी उसीके हाथ में सौंप दिया, जिसके हाथ में राजदंड था। जब दमन तथा उत्पादन के साधन एक ही गुट के हाथ में आ गये, तब उसके लिए जनता का पूर्ण रूप से निर्दलन करना आसान हो गया। दंड का दबाव जनता पर और अधिक हो गया।

दवा से मर्ज बढ़ा

कहावत है, 'मर्ज बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की।' मनुष्य जैसे-जैसे आजादी की चेष्टा करता गया, वैसे-वैसे उसके गले में शासन का फंदा बढ़ता गया। कारण यह है कि यद्यपि मनुष्य ने इस चेष्टा में बड़ी-बड़ी क्रांतियाँ कीं, भीषण आत्म-बलिदान भी किया, लेकिन उसने एक बुनियादी भूल की। उसने यह नहीं समझा कि उसके

सिर पर दंड गिरता है, दंड चलानेवाला नहीं। इस भूल के कारण उसने यह समझा कि उसको तकलीफ दंड चलानेवालों के कारण हो रही है, न कि दंड के कारण। इसीलिए उसने हमेशा चलानेवालों पर ही हमला किया और दंड को केवल सुरक्षित ही नहीं रखा, बल्कि वह उसका कलेवर बढ़ाता ही गया। गाधीजी ने मानव-समाज की दृष्टि इस बुनियादी भूल की ओर आकृष्ट की। उन्होंने बताया कि मनुष्य खुद दोषी नहीं होता, पद्धति ही किसी सुख या दुख का कारण होती है। अगर दंड के आघात से तकलीफ होती है, तो दंड को न हटाकर दंड चलानेवालों को बदलने से कोई लाभ नहीं होता। अतएव अगर मनुष्य को शोषण मुक्त होना है, तो उसे दुनिया में एक दण्ड-हीन यानी शासन-हीन समाज कायम करना होगा।

भूमिदान-आन्दोलन के सिलसिले में इस विचार की आवश्यकता दिन दिन प्रकट होने लगी और अन्त में बोधगया में सर्वोदय-समाज का ध्येय शासन मुक्त तथा शोषण हीन यानी श्रेणी हीन समाज घोषित किया गया। प्रस्तुत पुस्तिका में सर्वोदय विचारधारा के अनुसार शासन-मुक्त समाज के बारे में कुछ विवेचन किया गया है। यह सामान्य विचार है और इसका अधिकाधिक विकास वाञ्छनीय है।

मैंने इस आशा से देश के शिक्षित समाज के सामने इसे पेश किया है कि वह इसे पढ़कर इस प्रश्न पर और अधिक ब्योरेवार विचार करे। मुझे विश्वास है कि मेरी यह आशा पूरी होगी। पुस्तिका के अनुपात में प्रस्तावना कुछ अधिक विस्तृत हो गयी, किन्तु विषय के प्रतिपादन के लिए इतनी भूमिका जरूरी थी।

—धीरेन्द्र मजूमदार

अनुक्रम

शासन-मुक्त समाज की अनिवार्यता : १ :

बोधगया के सर्वोदय-सम्मेलन के अवसर पर अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ ने एक प्रस्ताव द्वारा यह एलान किया कि भूदान-यज्ञ-मूलक अहिंसक-क्रांति का ध्येय शासन-मुक्त तथा शोषण-हीन समाज की स्थापना है। तब से देश भर से तरह-तरह के सवाल पूछे जाते हैं। उनका आशय यह है कि आखिर इस शासन-मुक्त समाज का क्या रूप होगा ? यह भी पूछा जाता है कि दुनिया मे यदि शासन नही रहेगा, तो समाज की व्यवस्था कैसे चलेगी ? क्या अव्यवस्था से उच्छृंखलता पैदा होकर वह मानव-समाज का नाश नही कर देगी ? हाल ही मे कुछ मित्रो ने मुझसे कहा कि अब तक तो हम समझते थे कि आप लोग गांधी के भक्त हैं, पर अब ऐसा जाहिर होने लगा है कि आप प्रच्छन्न कम्युनिस्ट हैं और उनकी तरफ से टट्टी की ओट मे रहकर शिकार खेल रहे है तथा हिन्दुस्तान मे सर्वोदय और गांधी के नाम से कम्युनिस्टो के सिद्धान्त फैला रहे हैं। इसी प्रकार के और दूसरे सवाल भी लोगो के मन मे उठते रहते हैं।

यह आवश्यक है कि संघ के प्रस्ताव के इस हिस्से के बारे मे विचार किया जाय।

सर्वोदय-समाज का उद्देश्य

यह तो प्रत्येक व्यक्ति मानता है कि सर्वोदय-समाज का उद्देश्य हिसा-मुक्ति है। गांधीजी के अनुसार अहिंसा केवल परम-धर्म ही नही है, वह 'नित्य धर्म' भी है। वस्तुत. उनकी अहिंसा

साधक के लिए नित्य धर्म तक ही सीमित नहीं है, बल्कि व्यक्ति और समाज के लिए वही विशेष धर्म और आपद्धर्म भी है। अर्थात अगर कभी समाज को किसी अन्याय के प्रतीकार में विद्रोह भी करना पड़े या दुनिया में कहीं कभी धर्मयुद्ध आवश्यक हो जाय, तो वह प्रतीकार और युद्ध भी अहिंसात्मक ही होना चाहिए। उनकी राय में किसी भी हालत में समाज में हिंसा को मान्यता नहीं मिलनी चाहिए। अगर ऐसा अहिंसक समाज बनाना है, तो मानव-हृदय से हिंसा के सम्पूर्ण निराकरण की आवश्यकता है।

हिंसा-मुक्ति के लिए शासन-मुक्ति अनिवार्य

अब प्रश्न यह है कि यह हो कैसे? आज तो मनुष्य के हृदय में नित्य हिंसा उत्पन्न होती रहती है। ऐसी परिस्थिति में समाज-शिक्षा और दीक्षा के द्वारा तथा अहिंसात्मक प्रक्रिया के प्रयोग और तदनुकूल सांस्कृतिक विकास के द्वारा अहिंसात्मक मनोभावना पैदा करने की चाहे जितनी कोशिश की जाय, मानव-हृदय से हिंसा का निराकरण नहीं हो सकता। अतएव यह आवश्यक है कि जिन प्रतिष्ठानों या संस्थाओं के कारण मनुष्य के भीतर हिंसा का उद्भव हुआ करता है, उनको विघटित किया जाय। शायद आज किसीको यह विशेष रूप से समझाने की आवश्यकता नहीं है कि मनुष्य के हृदय में हिंसा का प्रकोप शासन और शोषण—इन दो प्रतिष्ठानों के कारण ही हुआ करता है। शासन का आधार दण्ड-शक्ति है। समस्त मानव-समाज की मान्यता उसे प्राप्त होने पर भी शासन की शक्ति हिंसात्मक ही होती है। हिंसा का आघात मनुष्य पर निरन्तर होता है। स्वभावतः आघात से प्रतिघात पैदा होता है। इस प्रकार शासन-संस्था के फलस्वरूप मानव-हृदय में हिंसा-प्रतिहिंसा का घात-प्रतिघात अदृश्य रूप

से सदा चलता है। इस प्रक्रिया के चलते हिंसा का निराकरण कैसे हो सकेगा ? स्पष्ट है कि यदि अहिंसक समाज की स्थापना के लिए हिंसा-मुक्ति आवश्यक है, तो शासन-मुक्ति भी अनिवार्य है।

सर्वोदय की क्रांति सर्जनात्मक है

अब यह प्रश्न रह जाता है कि शासन-मुक्त समाज का उद्देश्य सिद्ध होने पर क्या समाज में उद्दण्डता और उच्छृंखलता नहीं फैलेगी ? यह प्रश्न इसलिए उठता है कि लोग समझते हैं कि समाज की परिस्थिति आज जैसी है, वैसी ही बनी रहेगी और वह शासन-मुक्त भी हो जायगा। लेकिन ऐसा हो ही नहीं सकता। सर्वोदय की क्रांति सर्जनात्मक क्रांति है। वह केवल शासन पर ही आघात नहीं करती, बल्कि शासन की आवश्यकता का ही निराकरण करती है। अहिंसक प्रक्रिया में समाज का संगठन ही इस ढंग से करना होगा, जिससे शासन अनावश्यक हो जाय। पहले यूरोप के अराजकतावादी इस बात को नहीं समझते थे, इसलिए वे शासन पर प्रत्यक्ष आघात करने की बात करते थे। उसके फलस्वरूप उच्छृंखलता पैदा होना स्वाभाविक था। आज जब हम शासन-मुक्ति की बात करते हैं, तो लोग उन्हीं पुरानी बातों को याद कर घबरा जाते हैं।

इतिहास के तीन युग

यह घबराहट केवल 'अराजकता' शब्द के कारण नहीं, बल्कि आज के प्रचलित 'शासन-हीन' शब्द के कारण भी है। अतः यह आवश्यक है कि 'शासन-हीन समाज' और 'शासन-मुक्त समाज' की भिन्नता को समझ लिया जाय।

इसे समझने के लिए मानव-इतिहास के तीन युगों की कल्पना की जा सकती है

१ शासनहीनता यानी उच्छृंखलता का युग,
२. शासन-युक्त समाज का युग,
३ शासन-मुक्त यानी स्वावलम्बन का युग।

सबसे पहले शासनहीनता का युग आता है। उसमे उच्छृंखलता रहती है। उसके बाद शासन-हीन समाज को व्यवस्थित करने के लिए शासन-पद्धति का आविष्कार होता है और उसके संघटन का अर्थात् शासनयुक्त समाज का युग आता है।

हम जब शासन-हीन समाज की बात करते हैं तब मानव-इतिहास के आदिम युग में लौट जाने की बात करते हैं। लेकिन शासन-मुक्त समाज से हम स्वतन्त्र जनशक्ति का संघटन कर शासन-पद्धति की आवश्यकता को विघटित करना तथा स्वय-प्रेरित स्वावलम्बी समाज का अधिष्ठान करना चाहते हैं।

इसमें स्वतन्त्र जनशक्ति की प्रेरणा से एक निश्चित प्रकार के समाज के सृजन की कल्पना है, न कि जो मौजूद है उसके विघटन मात्र की। यही कारण है कि हम यह नहीं कहते हैं कि अमुक प्रकार की परिस्थिति के कारण राज्य अपने आप सूख करके मर जायगा, बल्कि हम यह कहते हैं कि जनशक्ति अपने संघटन और सक्रिय चेष्टा द्वारा शासन के नागपाश से अपने को मुक्त कर लेगी।

इतिहास के दो उदाहरणों से इस बात को अच्छी तरह समझा जा सकेगा। (१) रोमन साम्राज्य द्वारा इंग्लैण्ड पर अपने आप कब्जा छोड देना, (२) अमेरिका की जनता द्वारा अंग्रेजी कब्जे से अपने आपको मुक्त कर लेना।

शासन-मुक्त समाज का रूप

दरअसल सम्पूर्ण शासन-मुक्ति की स्थिति एक आदर्श स्थिति है। मनुष्य को उसकी प्राप्ति तभी होगी, जब वह विकास की आदर्श अवस्था को पहुँच जायगा। जाहिर है कि ऐसी स्थिति अन्तिम स्थिति होगी और अन्तिम स्थिति की प्राप्ति तो अनन्त के अन्त में ही होती है। यही कारण है कि गांधीजी कहते थे कि आदर्श स्थिति रेखागणित की परिभाषा के बिन्दु जैसी है। उसकी कल्पना की जा सकती है, लेकिन आकृति दिखाई नहीं देती। अतः जो प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला समाज होगा, उसका आधार-बिन्दु तो सम्पूर्ण शासन-मुक्ति का आदर्श होगा। फिर भी प्रत्यक्ष आकृति में उसका स्वरूप शासन-निरपेक्ष समाज का होगा। अर्थात् शासन का कुछ अवशेष तो उस समाज में रह जायगा, लेकिन मनुष्य के नित्य जीवन में उसका असर नहीं रहेगा। दैनिक समस्याओं के समाधान, नित्य आवश्यकताओं की पूर्ति तथा आन्तरिक व्यवस्था के लिए शासन की अपेक्षा नहीं रहेगी। समाज के संतुलन के लिए इतना अवशिष्ट शासन समाज के संतुलन के लिए आवश्यक भी होगा। समाज की इकाइयाँ चाहे जितनी स्वयपूर्ण क्यों न हों, उन्हें एकसूत्र में पिरोने के लिए उस महीन धागे की आवश्यक्ता रहेगी। अवशिष्ट शासन वह अदृश्य महीन धागा होगा, लेकिन धागे से अधिक उसका काम नहीं होगा। फूलों की वह माला सुन्दर मानी जाती है जिसमें धागा दिखाई नहीं देता। उसी तरह जिस समाज के जीवन में शासन के अस्तित्व का भान नहीं होता, वह शासन-निरपेक्ष समाज है।

ऐसे शासन-निरपेक्ष समाज की ओर कदम बढ़ाने का मार्ग

कौन-सा है, उसके लिए किस प्रकार की क्रान्ति जरूरी है, इस प्रश्न की चर्चा आगे करेंगे।

शासन-मुक्त समाज की भूमिका : २ :

पिछले लेख में अहिंसक समाज के लिए शासन-मुक्त समाज की अनिवार्यता पर चर्चा की गयी थी। वस्तुत शासन-मुक्त या शासन-रहित समाज की कल्पना गाधीजी से पहले अराजकता-वादियों के अलावा मार्क्सवादियों ने भी व्यवस्थित रूप से की थी। मार्क्स की कल्पना के अनुसार कम्युनिस्ट दल के लोग अपने दर्शन मे इसका एक मूल तत्त्व के रूप मे ही प्रचार करते और शासन-हीन तथा श्रेणी-हीन समाज का नारा वरावर वुलन्द करते रहते है। यही कारण है कि हम भी जव शासन-मुक्ति की वात करते हैं, तो बहुत से मित्रों को यह भ्रम होता है कि हम भी कहीं कम्युनिस्टो की प्रक्रिया को ही तो नही दुहरा रहे हैं। इसी कारण दूसरे कई लोगो को यह भी भ्रम होता है कि कम्युनिज्म से हिंसा निकाल देने से सर्वोदय हो जाता है।

उल्टी तरकीव

अत यह आवश्यक है कि हम इस प्रश्न पर सर्वोदय के विचार को तुलनात्मक दृष्टि से समझ ले। हमने पहले ही कहा है कि समाज शासन-मुक्त तव तक नही हो सकता, जव तक मनुष्य को शासन की आवश्यकता रहेगी। आखिर जव तक किसी चीज की आवश्यकता रहती है, तव तक मनुष्य उस चीज से मुक्ति पाने की चेष्टा ही नहीं करता। इस वुनियादी सिद्धान्त की दृष्टि से ही कम्युनिज्म की भूमिका मे दोष दिखाई देता है। वे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दृढ सत्ता हस्तगत करना अनिवार्य मानते हैं, क्योंकि उनकी राय मे समाज को किसी नतीजे तक पहुँचाने के

लिए शासन की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। इस विचार को देखने से "प्रथमग्रासे मक्षिकापात." वाली कहावत याद आती है। अगर शासन-हीन समाज स्थापित करने की क्रान्ति के लिए प्रथम से ही शासन की अनिवार्यता महसूस होती है, तो शासन के विना सम्पूर्ण समाज का संचालन हो जायगा, ऐसी आशा किस बुनियाद पर की जाती है? समाज की समस्याओ के समाधान के लिए अगर शासन की आवश्यकता है, तो समाज की सुनियन्त्रित व्यवस्था के लिए उसकी आवश्यकता और भी अधिक रहेगी। तो वस्तुतः शासनहीन समाज तभी हो सकता है, जब स्वतंत्र तथा स्वावलम्बी लोक-शक्ति सहकार के आधार पर समाज-व्यवस्था कायम करके समाज से संचालन को ही विघटित कर सके। अर्थात् संचालित समाज के स्थान पर सहकारी समाज स्थापित हो सके।

वैज्ञानिक भ्रम

कम्युनिस्ट ऐसा करने के बदले शासन-हीन समाज की स्थापना के उद्देश्य से प्रतिदिन शासन को अधिकाधिक व्यापक और दृढ़ करते जा रहे हैं। शासितो के हाथ मे जब शासन रहेगा, तो उसके परिणामस्वरूप शासन का अन्त हो जायगा। कम्युनिस्ट इसे वैज्ञानिक दृष्टि मानते है। सम्भवत. वे इसलिए ऐसा मानते होंगे कि विज्ञान का एक सूत्र यह भी है कि 'जब किसी वस्तु का पूर्ण विकास हो जाता है, तब उसकी मृत्यु हो जाती है।' लेकिन वे भूल जाते हैं कि ऐसा वैज्ञानिक या दार्शनिक आदर्श आखिरी मंजिल होती है, जैसा कि मैंने पहले लेख मे बतलाया ही है। ऐसी आदर्श अवस्था मे अन्तिम स्थिति होती है, जिसे अनन्त अन्त मे ही प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् वह रेखागणित की परिभाषा के बिन्दु के समान है।

अतएव अगर इस आशा से कि अंत में जाकर समाज शासन-शून्य हो जायगा, हम शासन को लगातार अधिक संगठित करते चलें, तो यह आशा कभी पूरी नहीं हो सकती। यह कल्पना वास्तविक नहीं होती, स्वप्नवत् ही रहती है।

युद्ध-प्रगति का चक्कर

वैसे तो बम्बई से कलकत्ता जाने के लिए कोई यह भी कह सकता है कि हम पश्चिम की ओर चलते-चलते अंत में कलकत्ता पहुंचेंगे ही। भौगोलिक वस्तुस्थिति के अनुसार इस प्रकार के चिन्तन में कोई दोष भी नहीं है, क्योंकि पृथ्वी गोल है। लेकिन कोई भी व्यावहारिक दृष्टिवाला चतुर व्यक्ति ऐसा नहीं करेगा, क्योंकि पता नहीं इस तरह किस काल के अंत में कलकत्ता पहुँचेंगे। चलने की प्रक्रिया में हर कदम के साथ वह कलकत्ते से दूर ही होता जायगा। वही हालत यहाँ भी होगी। वैसे तो पूर्णत्व-प्राप्ति का नतीजा पंचतत्त्व-प्राप्ति में होता है, यह सिद्धान्त भी गलत नहीं है। लेकिन उसे सही मान लें, तो भी शासन-मुक्ति के उद्देश्य से शासन-संगठन की प्रक्रिया को अपनाने पर मनुष्य प्रगति के हर कदम के साथ शासनहीनता की स्थिति से दूर ही हटता जायगा और आदर्श अवस्था तो अन्तिम स्थिति है। इस कारण दूर हटने की यह युद्ध-प्रगति अनन्तकाल तक चलती रहेगी।

मुक्ति का तरीका ही क्यों ?

यही कारण है कि गांधीजी साध्य और साधन की एक-रूपता पर इतना अधिक जोर देते थे। गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि विरोधी साधन के द्वारा साध्य की ओर प्रगति असम्भव है। इसलिए शासन-मुक्ति की प्राप्ति के लिए

शासन-निरपेक्ष स्वतंत्र जनशक्ति के संगठन द्वारा शासन की आवश्यकता का विघटन सर्वोदय की साधना रही है। यही कारण है कि विनोबाजी देश की मूल समस्या, यानी भूमि-समस्या के समाधान की चेष्टा कानून के भरोसे न करके स्वतंत्र लोक-शक्ति के भरोसे करते हैं। उनका कहना है कि उनका साधन हिंसा-शक्ति का विरोधी, दण्ड-शक्ति से भिन्न, लोक-शक्ति है।

इस सर्वोदय की क्रान्ति की प्रक्रिया से, जन-शक्ति के संगठन द्वारा शासन-संस्था का विघटन होता जाता है और उसकी प्रगति के साथ-साथ जन-स्वतंत्रता तथा शासन-हीनता की सिद्धि की ओर प्रगति होती रहती है। यह प्रगति जिस हद तक होती है; उस हद तक मानव शासन से मुक्त हो जाता है।

लोक-शक्ति का संगठन : ३ :

सर्वोदय की दृष्टि से शासन-मुक्त समाज की भूमिका क्या है. इस पर हम चर्चा कर चुके हैं। वस्तुत. इस दृष्टि को स्पष्टता के साथ समझ लेने पर आज लोगों की जो बहुत-सी परेशानियाँ हैं, वे समाप्त हो जायँगी। फिर लोग हमसे यह नहीं पूछेंगे कि भूमिदान की उद्देश्य-सिद्धि के लिए हम कानून के इस्तेमाल का आग्रह क्यों नहीं करते? यहीं पर गांधीजी के सिद्धान्त को समझ लेना चाहिए। उन्होंने हमेशा कहा है कि जिस प्रकार का साध्य होगा, साधन भी उसीके अनुरूप होना चाहिए। वस्तुतः क्रान्ति के इतिहास में साधन-शुद्धि का तत्त्व गांधीजी की एक बहुत बड़ी देन है। अगर साध्य शासन-निरपेक्ष या दण्ड-निरपेक्ष समाज स्थापित करना है, तो उसकी प्राप्ति के लिए जो भी साधन इस्तेमाल करना है, उसे भी शासन-निरपेक्ष या दण्ड-निरपेक्ष ही होना चाहिए। यही कारण है कि विनोबाजी सर्वोदय

की सिद्धि के लिए स्वतन्त्र लोक-शक्ति के प्रयोग पर ही जोर देते हैं।

एक अवैज्ञानिक सिद्धान्त

आज के बहुत-से राजनीतिक विचारक इस बुनियादी सिद्धान्त को नहीं मानते। उनका कहना है कि इस जमाने की राज्य-सस्थाएँ इतनी अधिक शक्तिशाली और सर्वाधिकारी हो चुकी हैं कि स्वतन्त्र लोक-शक्ति का कोई भी प्रयास टिक नहीं सकता, क्योंकि ऐसे प्रयास की शुरुआत मे ही उसे दबा देने की शक्ति राज्य के अन्दर रहती है। अतएव उनकी राय है कि अगर सचमुच जनतन्त्र की स्थापना करके शासन-मुक्ति की ओर बढना है तो पहले राज्य-तन्त्र को हस्तगत कर उसीके द्वारा उद्देश्य-सिद्धि की ओर बढा जा सकता है। लेकिन क्या ऐसा हो सकता है? आखिर मानव-समाज को शासन-मुक्ति की बात सूझी क्यों? इसीलिए न कि जमाने ने देख लिया कि शासन की दमन-शक्ति आज मानव को ही दबाकर मार रही है और अपनी इस शक्ति को कायम रखने के लिए वह तन्त्र मानव का निरन्तर शोषण करता रहता है? अर्थात् आज राज्य-सस्था का स्वरूप ही निर्दलन तथा शोषण का बन गया है। ऐसे यन्त्र द्वारा शोषण तथा निर्दलन को निर्मूल कर स्वतन्त्र तथा स्वावलम्बी समाज नहीं बनाया जा सकता। जो भी मनुष्य या दल इस यन्त्र को हस्तगत करेगा, उसे उसको चलाना ही पडेगा। वह उसे तोड नहीं सकता। इसमे मनुष्य तथा यन्त्र का स्वरूप ही बाधक साबित होगा। मनुष्य के अन्दर अधिकार-प्राप्ति के बाद उसे कायम रखने की सहज प्रवृत्ति होती है और अगर सयोग से कोई महान् तपस्वी इस प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त कर, स्थितप्रज्ञ होकर, राज्य-विघटन की चेष्टा भी करे, तो राज्य-रूपी

यंत्र आत्मरक्षा की चेष्टा में उस व्यक्ति का सारा प्रयास निष्फल कर देगा। वस्तुतः राज्य द्वारा राज्य का विघटन ही एक अवैज्ञानिक कल्पना है; क्योंकि वह प्रकृति के नियमों के विरुद्ध है। प्रकृति का नियम आत्मरक्षा है, आत्महत्या नहीं। इसीलिए बहुत-से मनीषी कहने लगे हैं कि राज्य-संस्था की निरन्तर चेष्टा अपने को संगठित करने की ओर रहती है। अतएव सर्वोदय की विचार-क्रान्ति को माननेवाले के लिए स्वतंत्र जन-शक्ति संगठित कर तथा जनता के विचार और विवेक पर असर डालकर पुराने मूल्यों में परिवर्तन करना होगा। दरअसल अगर आज की राज्य-संस्था अत्यधिक शक्तिशाली और सर्वाधिकारी हो गयी है, तो यही सबसे बड़ी दलील है कि उसका मुकाबला करने के लिए उसी शक्ति के भरोसे न रहकर स्वतन्त्र जनशक्ति संगठित कर, उसके द्वारा राज्य-शक्ति का विनाश किया जाय।

लोक-शक्ति का राज्य पर प्रभाव

यह बात दूसरी है कि ऐसे स्वतन्त्र लोक-शक्ति के संगठन तथा प्रदर्शन के कारण राज्य को झुकना पड़े और वह जनता के उद्देश्य के अनुकूल कानून बनाये और वे कानून जन-शक्ति के संगठन में सहायक हों। लेकिन, ऐसी परिस्थिति का मतलब यह नहीं है कि जन-शक्ति राज्य-शक्ति के भरोसे संगठित हो रही है, बल्कि इसका मतलब यह है कि वह शक्ति राज्य की ताकत पर हावी होकर उसे विघटन की ओर ले जा रही है।

सर्वाधिकारी राज्य-व्यवस्थाएँ : ४ :

लोभ या शोषण-वृत्ति से हिंसा पैदा होती है। आज शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति मिलेगा जिसे इस तत्त्व को समझाने की आवश्यकता है। दार्शनिक तथा तात्त्विक आधार को छोड़ भी

ट, तो समाज के नित्य-व्यवहार से इस बात की सत्यता प्रकट हो जाती है। अगर कोई व्यक्ति किसीका शोषण करना चाहता है, तो उसमे हिंसा की प्रवृत्ति ऊपर से दिखाई नहीं देती, लेकिन जैसे ही शोषण के रास्ते मे बाधा पडती है वैसे ही हिंसा एकदम स्थूल रूप मे प्रकट हो जाती है।

वस्तुत मनुष्य-समाज ने शासन-सस्था का आविष्कार, शोषण के कारण जिस विराट् हिंसा का जन्म होता है, उसको मर्यादित करने के लिए किया था। लेकिन बाद को यही सस्था सबसे बडी शोषण-सस्था साबित हुई। आज ससार की जितनी राज्य-व्यवस्थाएँ हैं, यदि उनका विश्लेषण किया जाय, तो उपर्युक्त बात की सत्यता प्रतीत हो जायगी।

राज्य-व्यवस्थाओ की सत्यता

दुनिया मे जितनी राज्य-व्यवस्थाएँ हैं, उन्हे देखने से स्पष्ट मालूम हो जायगा कि उनका स्वरूप निश्चित रूप से सर्वाधिकारी (Totalitarian) है। सर्वाधिकारी राज्य का मतलब ही है कि जनता के जीवन के हर पहलू पर राज्य का कब्जा स्थापित करना तथा समाज की हरएक समस्या का समाधान राज्य-व्यवस्था के द्वारा प्रत्यच रूप से करना। ऐसा करने के लिए आवश्यक है कि देश मे एक बहुत विराट् फौज खडी की जाय जो केवल व्यवस्था ही करती रहे और समाज मे उसकी स्थिति अनुत्पादक उपभोक्ता के रूप मे ही हो। समाज मे जिस अनुपात मे अनुत्पादक उपभोक्ताओ की वृद्धि होगी, उसी अनुपात से उत्पादक को अपने उत्पादन के उपभोग से वंचित होना पडेगा, अर्थात् उनका शोषण होता रहेगा।

पार्लियामेंटरीवादी राज्य-व्यवस्था

कुछ लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि अधिनायकवादी और

साम्यवादी राज्य-व्यवस्था के बारे में तो यह बात समझ में आती है, लेकिन पार्लियामेंटवादी राज्य-व्यवस्था को भी सर्वाधिकारी कैसे कहा जा सकता है? ऊपर से देखने में शायद ऐसा नहीं लगेगा। लेकिन गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि पार्लियामेण्टवादी राज्य भी आज सर्वाधिकारी राज्य हो गया है या तेजी से उस ओर बढ़ रहा है। पार्लियामेण्टरी राज्यवाद का इतिहास ही उसे सर्वाधिकार की ओर ले जा रहा है।

मनुष्य ने किन्हीं कारणों से राज्यतन्त्रों को समाप्त करना चाहा और उसने ऐसा किया भी, लेकिन उसे राजाओं के हाथ में जो काम था, उसकी, यानी समाज के संचालन के लिए एक ऊपरी एजेन्सी की आवश्यकता थी। उस आवश्यकता की पूर्ति में उसने पार्लियामेण्टवाद की सृष्टि की। अर्थात् जनता ने समाज-व्यवस्था का ढाँचा पूर्ववत् कायम रखकर राजा के स्थान पर अपने प्रतिनिधि को नियुक्त किया। स्वभावतः राजा की अपेक्षा अपने प्रतिनिधि से उसकी आशा अधिक थी। उसकी आशा यह हुई कि राजा समाज के जितने अंश की देखभाल करता था, हमारा आदमी होने के कारण वह अधिक हिस्से की देखभाल किया करेगा।

अधिकार की वृत्ति

दूसरी ओर प्रतिनिधि के हाथ में जब अधिकार आया, तो स्वभावतः उसकी प्रवृत्ति अपना अधिकार बढ़ाने की ओर रही। मनुष्य का स्वाभाविक झुकाव ऐसा ही रहता है। फलतः एक ओर से जनता की अपेक्षा और दूसरी ओर से प्रतिनिधि की आकांक्षा राज्य के दायरे को निरन्तर बढ़ाती रही और आज संसार में लोग पार्लियामेण्टरी लोकतन्त्र का मतलब जन-कल्याणकारी राज्यवाद (Welfare Statism) ही मानने लगे।

फलस्वरूप अगर किसी देश मे कहीं कोई भूखा रहता है या कहीं कोई बेकार रहता है, तो उसके लिए राज्य ही जिम्मेदार है, ऐसा माना जाता है। अगर राज्य उस जिम्मेदारी को पूरा करने मे असमर्थ रहता है तो जनता की ओर से झडा लेकर जुलूस निकाला जाता है और साथ-साथ यह नारा लगता है कि "रोटी-रोजी दो, नहीं तो गद्दी छोड़ दो।" इसका क्या मतलब है ? अगर एक भी व्यक्ति के भूखा रहने के लिए राज्य जिम्मेदार है तो उस राज्य को इस नियन्त्रण का भी अधिकार देना पड़ेगा कि कोई भी व्यक्ति अपनी पाचनशक्ति से अधिक एक दाना भी न खाने पाये। अर्थात् अगर जनता के सर्वकल्याण की जिम्मेदारी राज्य को लेनी है, तो उस जिम्मेदारी को पूरी तौर से निभाने के लिए, उस देश के जीवन-सर्वस्व पर अधिकार उसे देना होगा। इसीको 'सर्वाधिकारी राज्यवाद' कहते हैं। वस्तुत. लोकशाही के नाम से जितने राज्य चल रहे हैं, वे (Welfare State) नारे की आड मे सर्वाधिकारी होते जा रहे हैं।

हिंसा की उत्पत्ति

अतएव आज के शासन का स्वरूप इतना विराट् हो गया है कि इसीको खिलाने मे जनता द्वारा उत्पादन का अधिकाश भाग निकल जाता है और वह जनता दाने-दाने को मुहताज रहती है। आज लोग पूँजीपतियो द्वारा शोषण की रट लगाते हैं। वे इसका खयाल नहीं करते कि यह बात पुरानी हो गयी। आज तो इग्लैंड और अमेरिका जैसे पूँजीवादी मुल्को में भी पूँजीपतियों के मुनाफे का नब्बे प्रतिशत तक राज्य अपने खर्च के लिए टैक्स के रूप मे ले लेता है।

इस प्रकार शासन के कारण समाज का जो दमन होता है उसीसे केवल हिंसा की उत्पत्ति होती है, ऐसी बात नहीं,

बल्कि जनता की श्रम-शक्ति का शोषण भी राज्य के कारण होता है। यही कारण है कि हम हिंसा-मुक्ति के लिए शासन-मुक्ति आवश्यक मानते है।

लेकिन आज तो शासन इतना व्यापक हो गया है कि उसने अपनी परिधि मे सारे मानव-समाज को ही घेर लिया है। ऐसी हालत मे शासन-मुक्ति का काम किस छोर से शुरू किया जाय, यह प्रश्न आज एक व्यावहारिक क्रान्तिकारी के लिए मुख्य प्रश्न होता है। इस व्यावहारिक प्रश्न पर हम आगे विचार करेंगे।

वैधानिक के बदले प्रत्यक्ष लोकशाही : ५ :

किसी चीज को विघटित करने के लिए यह आवश्यक है कि जिन शक्तियो द्वारा वह विघटित होगी, उन शक्तियो की पकड़ मे वह चीज आ जाय। इसलिए पहले राज्य पर जनता का प्रत्यक्ष नियंत्रण हो, यह आवश्यक है। अर्थात् शासन-संस्था के विघटन के लिए यह जरूरी है कि पहले दुनिया मे जो वैधानिक लोकतंत्र चल रहा है, उसके स्थान पर प्रत्यक्ष लोकशाही की स्थापना हो।

लोकशाही के अतर

वैधानिक लोकशाही और प्रत्यक्ष लोकशाही मे क्या अंतर है, उसे समझ लेना चाहिए। इस बारे में गांधीजी ने हमे स्पष्ट सूत्र दे रखा है। बालिग-मताधिकार की बुनियाद पर चुनाव के फलस्वरूप कुछ लोगों को अधिकार प्राप्त हो जाने से वैधानिक लोकतंत्र की स्थापना हो जाती है। लेकिन गांधीजी ने हमे बताया है कि इतने मात्र से ही वास्तविक लोकतंत्र नहीं होता है। उन्होने कहा है . "कुछ लोगो को अधिकार प्राप्त हो जाने मात्र से ही स्वराज्य नहीं होता; बल्कि अधिकार का दुरुपयोग

होने पर प्रत्येक व्यक्ति मे प्रतिकार करने की शक्ति जब आती है, तब वास्तविक स्वराज्य होता है।" अत वास्तविक लोकशाही की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि जनता का प्रत्येक व्यक्ति जरूरत होने पर अहिंसक प्रतिरोध की योग्यता और अनुकूलता प्राप्त करे। यह तभी हो सकता है, जब जनता की जान अधिकारी के चंगुल से बाहर हो, क्योंकि कहावत मशहूर है—"जिसके हाथ मे जान, उसके हाथ मे आन।"

पूंजी और जनता

आज ससार की जनता की जान पूँजी के आश्रित हो गयी है, क्योंकि जीवन-धारण के सारे उपादान केन्द्रीय पूँजीवादी अर्थ-तत्र के नीचे दब गये हैं। अत जब सारी जनता की जान पूँजी की मुट्ठी मे बन्द है, तब स्वभावत जिसके हाथ मे पूँजी होगी, उसीके हाथ मे जनता की जान होगी। आज संसार मे जितने प्रकार की समाज-रचनाएँ मौजूद हैं, उनमे कही राज्य के हाथ मे पूँजी और कहीं पूँजी के हाथ मे राज्य—ऐसा सिलसिला चलता है। वस्तुत दोनो स्थितियो मे कोई अतर नहीं है, अर्थात् दुनिया मे सर्वत्र स्थिति यह है कि अधिकारी के हाथ मे पूँजी और पूँजी के हाथ मे जनता का प्राण।

ऐसी हालत मे अगर जनता का स्वतत्र अस्तित्व कायम करना है, तो पहले आर्थिक क्रान्ति द्वारा सामाजिक पद्धति को परिवर्तित करने की आवश्यकता है। याने, आज जो पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था चल रही है, उसको बदलकर श्रमवादी उत्पादन-पद्धति की स्थापना करनी है। इसलिए उत्पादन की प्रक्रिया तथा साधन पूँजी के हाथ से निकालकर श्रम के हाथ मे सौंपने की आवश्यकता है। यही कारण है कि गाधीजी हमेशा चरखे को अहिंसा

का प्रतीक कहते थे; क्योंकि हिंसा से मुक्ति पाने के लिए शासन-मुक्ति आवश्यक है तथा शासन-मुक्ति के लिए पूँजी से मुक्ति पाना अनिवार्य है और चरखा पूँजी-मुक्ति का साधन है।

पूँजीवाद और मार्क्सवाद

जो लोग महात्मा मार्क्स के अनुयायी हैं, उन्हें इस बात पर विचार करना चाहिए। कार्ल मार्क्स ने इस मूल तत्त्व को मानव-समाज के सामने रखा कि आज का स्वरूप उत्पादन की प्रक्रिया के स्वरूप पर निर्भर करता है और उत्पादन की प्रक्रिया उसके साधन के स्वरूप पर निर्भर करती है। लेकिन उसके अनुयायी जल्दी से कुछ कर डालने के मोह में इस मूल तत्त्व को ही भूल गये और पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में जिस प्रकार के साधन इस्तेमाल किये जाते हैं उन्हें वैसे-के-वैसे इस्तेमाल करने लगे और फल-स्वरूप उनके तरीके भी ज्यों-के-त्यों बने रहे। उन्होंने उत्पादन की प्रक्रिया तथा साधन में कोई परिवर्तन नहीं किया, परि-वर्तन केवल उत्पादन के उद्देश्य में किया। जहाँ पूँजीवादी उत्पादन का उद्देश्य मुनाफे के लिए था, वहाँ मार्क्सवादियों का उद्देश्य सामाजिक आवश्यकता के लिए हो गया। लेकिन चूँकि उत्पादन की प्रक्रिया और साधन में परिवर्तन नहीं हुआ, इसलिए समाज के स्वरूप में भी परिवर्तन नहीं हुआ। अर्थात् दोनों ही सर्वाधिकारी बन गये। एक फैसिज्म के रूप में और दूसरा कम्युनिज्म के रूप में। वास्तविक लोकतंत्र किसी भी पद्धति में कायम नहीं हो सका। वस्तुतः गांधीजी का चरखा उत्पादन की प्रक्रिया तथा साधन में आमूल परिवर्तन की दिशा में एक सक्रिय तथा रचनात्मक प्रयास था।

भूमिदान-यज्ञ का महत्त्व

विनोबाजी भी इसी कारण से भूमिदान-यज्ञ-आन्दोलन को अहिंसक क्रान्ति की बुनियाद मानते हैं, क्योंकि उत्पादन का मूल साधन भूमि है। इसलिए यदि पूँजीवाद के बदले में श्रम-वाद की स्थापना करनी हो, तो सबसे पहले भूमि को पूँजी के हाथ से निकालकर श्रम के हाथ में अर्पित करने की आवश्यकता है। फिर केन्द्रित-उद्योग-बहिष्कार तथा सम्पत्तिदान-यज्ञ द्वारा वे बाकी क्षेत्रों से भी पूँजी के निराकरण की कोशिश करेंगे।

इस प्रकार भूमिदान-यज्ञ से आरम्भ कर, आर्थिक क्रान्ति के साथ-साथ शासन-विघटन की राजनैतिक क्रान्ति की ओर बढ़ना होगा। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमें क्रमश निम्न प्रकार के कार्यक्रम चलाने होंगे।

यज्ञ का मूल स्रोत

भूमि-प्राप्ति, भूमि-वितरण तथा उसके सिलसिले में केन्द्रित-उद्योग-बहिष्कार, साधन तथा सम्पत्तिदान-यज्ञ, ग्रामोद्योग की स्थापना, कृषि-संवर्धन आदि कार्यक्रम के लिए गाँव-गाँव में ग्रामीण जनता का संगठन खडा करना होगा। जिस समय देहात की जनता को यह भरोसा हो जायगा कि सरकार की अनेक जिम्मेदारियों में से कुछ जिम्मेदारी वे स्वावलंबी नेतृत्व तथा व्यवस्था से चला सकेंगे, तब वे सत्तादान-यज्ञ का सूत्रपात करेंगे। उस समय वे उनकी सूची तैयार करेंगे कि राज्य के किन-किन विभागों को वे खुद सम्हाल सकेंगे, और राज्य से अपने लिए उन विभागों का दान माँगेंगे। जिस तरह आज भूमिवान तथा सम्पत्तिवान इस यज्ञ में अपनी भूमि तथा सम्पत्ति की आहुति अर्पित कर रहे हैं, उसी तरह उस समय सत्तावान अपनी

सत्ता का अमुक हिस्सा इस यज्ञ मे अर्पित करेंगे और उस अनुपात मे जनता को कर-मुक्त भी करेंगे ।

इस तरह भूदान-यज्ञ-मूलक, ग्रामोद्योग-प्रधान, अहिंसक क्रान्ति द्वारा, आर्थिक तथा राजनैतिक क्रान्ति के मार्ग पर शासन-मुक्त समाज की ओर निश्चित कदम बढ़ाने होंगे ।

राजतंत्र का स्वरूप : ६ :

व्यावहारिक व्यक्ति कहेंगे कि शासन-मुक्ति की स्थिति तो कल्पना की चीज है। उसे तो दार्शनिक ही समझ सकते हैं। मानव-समाज को क्या कभी उसका प्रत्यक्ष स्वरूप देखने को मिलेगा ?

हमने पहले ही कहा है कि हमारे लिए शासन-मुक्त समाज का व्यावहारिक रूप, शासन-निरपेक्ष-समाज है। स्वभावतः शासन-निरपेक्ष समाज के ढाँचे में अवशिष्ट शासन का अस्तित्व रह ही जाता है। इस अवशेष का स्वरूप कैसा हो, हमें इसका विचार करना होगा।

इसके लिए मौजूदा राजतंत्र का ढाँचा उलट देना होगा। आज राजनीति का स्वरूप 'ऊर्ध्वमूलमधःशाख' का है। अर्थात् प्रेरक कर्तृत्व राष्ट्रीय-केन्द्र से शुरू होता है और वह ग्राम-केन्द्र की ओर क्रमशः बढ़ता है। इसको बदलकर हमे प्रेरक कर्तृत्व, बुनियादी जनता, याने ग्राम-केन्द्र के हाथ में रखना होगा, और सहायक या पूरक व्यवस्था को क्रमशः ऊपर की ओर ले जाना होगा, अर्थात् समाज-व्यवस्था संचालित न होकर सहकारी होगी। ऐसी हालत में संविधान सभा की बैठक देहली मे नहीं

होगी। उसकी बैठक गाँव-गाँव मे होगी और गाँववाले निर्णय करेंगे कि व्यवस्था तथा उत्पादन की कितनी जिम्मेदारी वे गाँव की सामूहिक शक्ति से निभायेंगे। अवशिष्ट जिम्मेदारियों में से आवश्यकता के अनुसार क्रमश: जिला, राज्य या केन्द्र के ऊपर भार सौंपेंगे और उनके लिए प्रतिनिधि भेजने की पद्धति निश्चित करेंगे।

इस प्रकार, ग्राम-व्यवस्था, जिला-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, राष्ट्र-व्यवस्था तथा अंतर्राष्ट्रीय-व्यवस्था के रूप का विकास—जीवन की बुनियाद गाँव से शुरू होकर—अखिल-विश्व-परिवार होगा। और इस वृक्ष का आकार जैसे-जैसे ऊपर की ओर बढ़ेगा, वैसे-वैसे पतला होता जायगा। और अन्त में सूक्ष्म विंदु के रूप मे अवशिष्ट रहेगा।

पद्धतियों का फर्क

यह व्यवस्था प्रतिनिधिमूलक तो होगी, लेकिन प्रतिनिधि गाँव से जिला, जिले से राज्य, राज्य से राष्ट्र और राष्ट्र से अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र को भेजे जायेंगे। चालू प्रत्यक्ष चुनाव-पद्धति माननेवालों को यह व्यवस्था अजीब मालूम होगी। उनको शायद यह अवैज्ञानिक भी मालूम हो। लेकिन गहराई से विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि लोकतंत्र के सिद्धान्त के अनुसार जब समाज-व्यवस्था का प्रथम प्रेरक निर्णय ग्राम-समाज के हाथ मे होगा, तब उसी पर नागरिक का प्रत्यक्ष अधिकार होना चाहिए। उसी सस्था मे प्रत्यक्ष-प्रतिनिधित्व होगा। उसके बाद की व्यवस्था तो ग्राम-पचायत द्वारा की गयी व्यवस्था है। इसलिए पचायत तक का प्रतिनिधित्व काफी है, क्योंकि नव-व्यवस्था मे ग्राम-पचायत नागरिक के प्रति जिम्मेदार होती है। फिर जिला

सभा, पंचायत के प्रांत, राज्य-सभा, जिला-सभा के प्रति; तथा राष्ट्र-सभा, राज्य-सभा के प्रति जिम्मेदार होती है। सिद्धान्त यह है कि जो संस्था, जिसके प्रति जिम्मेदार होगी, उस संस्था में उसीका प्रतिनिधित्व होना चाहिए। आज जो प्रथा चल रही है उसमें चूँकि प्रथम प्रेरक निर्णय राष्ट्र-केन्द्र की ओर से लिया जाता है, इसलिए केन्द्र-सभा को मूल नागरिक का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि बनना ही पड़ता है। इसलिए प्रत्यक्ष चुनाव-पद्धति अनिवार्य हो जाती है। अतः पुरानी तथा नयी पद्धति के इस मौलिक फर्क को समझ लेना चाहिए।

राजनीति और लोकनीति

इस प्रकार राजनीति विकेन्द्रित होकर जब लोकनीति में परिणत होगी; और पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के स्थान पर श्रमवादी उत्पादन-पद्धति की स्थापना हो जायगी, तब मनुष्य-स्वभाव में से हिंसावृत्ति का निराकरण संभव हो सकेगा। हिंसा-मुक्ति तथा सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ सहकार-वृत्ति का विकास स्वाभाविक है। जैसे सहकारी मनुष्य-समाज के लिए हर प्रश्न पर सामूहिक रूप से निर्विरोध निर्णय करना केवल संभव ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक भी होगा, क्योंकि पूर्ण रूप से सम्मति न रहने पर भी समाज-कल्याण की दृष्टि से सहमति होना विकसित संस्कृति का एक लक्षण है। सहकार-सिद्धि का भी यह एक मुख्य साधन है।

यहाँ 'सम्मति' और 'सहमति'—इन दो शब्दों का अन्तर समझ लेना चाहिए। 'दो व्यक्तियों में आपस में 'सम्मति' है', तब कहा जायगा जब दोनों की राय बिल्कुल एक हो। लेकिन ऐसी भी परिस्थिति होती है जब एकमत न होने पर भी एक-दूसरे के साथ चलने की वृत्ति होती है। उस समय एक व्यक्ति

दूसरे की राय का साथ देता है। इसे 'सहमति' कहते हैं। यही कारण है कि हम 'सर्वसम्मति' से निर्णय न कहकर 'सर्वसहमति' यानी 'निर्विरोध' निर्णय कहते हैं।

अंग्रेजी मे एक मुहावरा है—'एग्रीइंग टु डिफर।' यह कुछ उसी प्रकार की स्थिति है।

फलत. आज पक्ष के आधार पर जो राजनीति चल रही है, वह नहीं चलेगी और इस कारण आज समाज में प्रतिद्वंद्विता-जनित जो द्वेष और हिंसा निरन्तर फैल रही है, उसका भी अन्त होगा और जो कुछ भी अवशिष्ट शासन रह जायगा, वह पक्ष-रहित होने के कारण समग्र समाज का प्रतिनिधि होगा। इसी व्यवस्था को हम व्यावहारिक शासन-मुक्त समाज कहते हैं।

पक्ष-रहित समाज का रूप

हम जब पक्ष-रहित समाज-व्यवस्था की बात कहते है, तो रूढ लोकतन्त्रवाद को माननेवाले मित्र उसे समझ नहीं पाते। उनका कहना है कि यह निर्विरोध निर्णय की बात करना स्वप्न-राज्य मे विचरना है। यह कभी हो नहीं सकता। उनकी राय से बहुमत-पद्धति ही एकमात्र व्यावहारिक पद्धति है। लेकिन क्या यह जरूरी है कि जब एक पक्ष के लोगो का बहुमत हो जाता है, तो उसके सब सदस्य हमेशा एकमत ही रहें? जब आधे से अधिक व्यक्तियों की सर्वसम्मति हमेशा सभव है, तब पूरे लोगो मे सर्व-सम्मति सभव नहीं हो सकती, ऐसा क्यों माना जाय? जिस कारण यह माना जाता है कि एक हजार व्यक्ति कभी एकमत नहीं हो सकते, उसी कारण यह भी सत्य है कि पाँच सौ एक व्यक्ति भी एकमत नहीं हो सकेंगे। वस्तुत जिस तत्त्व के आधार पर आज के लोकतन्त्रवादियों ने बहुमत के सिद्धात का आविष्कार किया है, उसी तत्त्व के आधार पर स्थायी बहुमत असंभव है।

फलतः पक्ष पर आधारित राजनीति का दलपति की एकतांत्रिक नीति में परिणत होना स्वाभाविक है और आज वैसा हो भी रहा है।

पार्टी ह्विप

अतएव अगर वास्तविक जनतंत्र की स्थापना करनी है, तो हमें पक्षवाद को छोड़कर जनवाद को स्वीकार करना होगा। थोड़ी देर के लिए अगर मान भी लिया जाय कि तात्कालिक परिस्थिति के कारण व्यावहारिकता के नाते बहुमतवादी निर्णय-प्रथा को विधान में स्थान देना ही होगा, तो भी पक्ष-रहित व्यवस्था में अधिक स्वतंत्र राय के आधार मिल सकते हैं। विधान में पक्ष की इजाजत न दी जाय और व्यक्ति के आधार पर चुनाव किये जायँ तो क्या वह अव्यावहारिक होगा? किसी सभा में अगर सौ सदस्यों की आवश्यकता है, तो व्यक्तिगत चुनाव के आधार पर सौ व्यक्ति चुने जा सकते हैं। फिर वे बहुमत से अपना अध्यक्ष चुन सकते हैं और सभा का निर्णय प्रत्येक प्रश्न पर बहुमत से ही हो सकता है। फिर 'पार्टी-ह्विप' रूपी अधिनायक की गुंजाइश नहीं रहेगी।

समाज का अर्थनैतिक स्वरूप :७:

जिस प्रकार शासन-निरपेक्ष समाज की कल्पना में अवशिष्ट शासन का अस्तित्व निहित रह जाता है, उसी प्रकार पूँजी निरपेक्ष उत्पादन-पद्धति में भी पूँजी का अवशेष रह ही जाता है। अतः हमें इस बात पर भी विचार करना है कि ऐसे समाज का अर्थनैतिक स्वरूप क्या होगा?

स्वावलम्बन की शुरुआत

जिस प्रकार राजनीतिक ढाँचा नीचे से ऊपर की तरफ

क्रमश पतला होते हुए अत मे विदुवत् हो जायगा, उसी प्रकार अर्थनैतिक ढॉचा भी परिवार-स्वावलंबन से शुरू होकर क्रमश. विकसित होता जायगा। और अत में पूँजी का आधार अत्यत सूक्ष्म रूप ले लेगा। ऐसी व्यवस्था में उद्योगो की तीन श्रेणियाँ होगी गृह-उद्योग, ग्राम-उद्योग तथा राष्ट्र-उद्योग। यह बात तो करीब-करीब गृहीत ही है कि भारत के आर्थिक जीवन की बुनियाद कृषि होगी। ऐसी हालत मे गृह-उद्योग भी दो श्रेणियो मे बाटे जायेगे। एक, सहायक उद्योग जो खेती से फुरसत के समय मे चलेगा और दूसरा, पूरे समय का पारिवारिक उद्योग।

मौलिक आवश्यकता

हम पहले कह चुके हैं कि लोकशाही की रक्षा के लिए मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओ की पूर्ति, स्वतत्र रूप से गृह-उद्योग के दायरे मे आनी चाहिए। अगर कुछ ऐसे उद्योग हो, जिनकी कुछ प्रक्रियाएँ, पारिवारिक शक्ति की मर्यादा के बाहर हो, तो उन प्रक्रियाओ को ग्रामोद्योग मे लिया जा सकता है। और, इसी दृष्टि से जिन उद्योगो को गॉव की सामूहिक शक्ति नही चला सकती और जिनकी आवश्यकता समाज के लिए अनिवार्य हो, उन्हे राष्ट्र-उद्योग के दायरे मे ले जाना होगा। राष्ट्र-उद्योग मुख्यत दो प्रकार के होगे। एक, वे जिनकी आवश्यकता अनिवार्य है, लेकिन जो गॉव की शक्ति से बाहर हैं, और दूसरे, वे जिनके लिए प्रकृति-देवी ने कच्चा माल ही केन्द्रित रूप से दिया है।

यत्र की मर्यादा

आजकल जनता मे इस बात की आम चर्चा है कि शासन-मुक्त स्वावलबी समाज में यत्रो की मर्यादा क्या होगी ? उद्योगो का

उपर्युक्त स्वरूप जो लोग मान्य करते हैं, उनमे भी इस प्रश्न पर गहरा मतभेद है। इसलिए यंत्रों की मर्यादा के मूल सिद्धात समझ लेने चाहिए।

स्पष्टतः सही दृष्टिवाले लोग यह मानते है कि समाज मे लोकशाही की रक्षा होनी चाहिए तथा हरएक को पूरा काम मिलना चाहिए। यंत्रो की मर्यादा आँकने के लिए मुख्यतः इन दो पहलुओं पर विचार करना होगा। एक तीसरा पहलू संस्कृति का है जो इन दो पहलुओ से अधिक नहीं, तो कम महत्त्व का भी हरगिज़ नहीं है। यंत्रो के बारे मे विचार करते समय इन तीनो पहलुओ पर खास ध्यान देने की आवश्यकता है।

जैसा कि हमने कहा है कि लोकतंत्र की रक्षा के लिए यह जरूरी है कि जनता जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए स्वतंत्र रहे, याने वह किसी केन्द्रीय व्यवस्था या अधिकार की मुहताज न रहे। अतएव जिन यंत्रो को चलाने के लिए, केन्द्रीय शक्ति की आवश्यकता होगी, वे सर्वोदय-समाज के लिए ग्राह्य नहीं होंगे। केन्द्रित उत्पादित बिजली, तेल, कोयला आदि ऐसी शक्ति के उदाहरण हैं।

ऐसे बहुत से यंत्र हो सकते हैं जिन्हें चलाने के लिए मनुष्य-शक्ति, पशु-शक्ति जैसी विकेन्द्रित शक्तियाँ काफी है। लेकिन जिसके चलने से समाज में बेकारी पैदा होती है, ऐसा यंत्र भी सर्वोदय-समाज मे ग्राह्य नहीं होगा।

उपर्युक्त राजनैतिक तथा आर्थिक कसौटी पर ग्राह्य होने पर भी हो सकता है कि कुछ यंत्रो का उपयोग, मानवोचित तथा कौटुंबिक संस्कृति के विकास में बाधक हो। ऐसा यंत्र भी काम मे लाना उचित नहीं होगा।

इस सिद्धान्त के अनुसार, कोई भी यंत्र शाश्वत रूप से

ाह्य या अग्राह्य नहीं कहा जा सकता। देश और काल के नुसार फर्क हो सकता है। कोई यंत्र राजनैतिक लोकसत्ता के रक्षण मे समर्थ होने पर भी भारत, चीन या जापान जैसे मुल्कों मे वेकारी पैदा कर सकता है। लेकिन अमेरिका, रूस, आस्ट्रेलिया और कनाडा जैसे मुल्कों मे हर व्यक्ति को काम देने मे समर्थ भी हो सकता है। उसी तरह विजली से सचालित यत्र जहाँ आज केन्द्रोत्पादित शक्ति का मुहताज है, वहाँ कुछ समय के बाद विकेन्द्रित विद्युत्-शक्ति-उत्पादन-प्रथा के आविष्कार से वह स्वतत्र लोकसत्ता की रक्षा करने मे समर्थ भी हो सकता है। भारत जैसे घनी आवादी के मुल्कों मे भी आज जो यंत्र वेकारी पैदा करता है, वही यत्र, कच्चे माल के उत्पादन तथा साधन की प्रक्रिया मे तरक्की होने पर, हरएक मनुष्य को काम देने में सहायक हो सकता है।

अव प्रश्न यह है कि समाज मे आर्थिक साधनों की व्यवस्था कैसी हो ? जहाँ तक पारिवारिक उद्योगो का सवाल है, वहाँ तक सभी यह वात स्वीकार करते हैं कि साधन की व्यक्तिगत मालिकी होनी चाहिए। लेकिन आज कृपि का साधन, याने भूमि तथा ग्राम-उद्योग और राष्ट्र-उद्योगो के साधन किसके हाथ में हो, इस विपय पर काफी वहस चलती है। शासन-मुक्त तथा श्रेणी-हीन समाज की दृष्टि से भी इन प्रश्नो पर विचार करने की आवश्यकता है।

भूमि की व्यवस्था

हमने पहले ही कहा है कि शासन-मुक्त समाज का मतलव अव्यवस्थित समाज नहीं, वल्कि पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित समाज है। जाहिर है कि ऐसा समाज सचालित न होकर सहकारी होगा। सहकारी समाज के लिए जहाँ स्वयप्रेरित तथा पूर्ण

विकसित व्यक्ति का होना आवश्यक है, वहाँ हरएक व्यक्ति में निरन्तर अभ्यास के फलस्वरूप सहकार तथा सामाजिकता का संस्कार होना जरूरी होगा। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भूमि की व्यवस्था निम्न प्रकार से होनी चाहिए :

(१) गाँव की सारी भूमि ग्राम-समाज की मातहत हो।

(२) ग्राम-समाज उसमें से सर्वसम्मति से निर्णय किया हुआ अंश सामूहिक खेती के लिए अलग रखे और बाकी पारिवारिक आवश्यकता तथा समता के अनुसार उनमें बाँट दे, ताकि वे स्वतंत्र रूप से अपनी प्रेरक-शक्ति तथा सहज-व्यक्तित्व का विकास कर सकें।

(३) सामूहिक खेती परिवारों के श्रम-दान से चलायी जायगी और उसके उत्पादन का उपयोग गाँव के सार्वजनिक सेवा-कोष के रूप में होगा। इस प्रकार सार्वजनिक सेवा के लिए आर्थिक कर के बदले श्रम-दान ही काफी होगा और फलस्वरूप श्रम-वादी समाज की प्राण-प्रतिष्ठा होगी। साथ ही सामूहिक श्रमदान के फलस्वरूप हमेशा के लिए सहकार-वृत्ति का अभ्यास कायम रखना शक्य होगा।

(४) ग्रामवासियों के सामूहिक निर्णय के अनुसार वितरण-व्यवस्था पर समय-समय पर पुनर्विचार हो सकेगा।

उद्योगों के बारे में अधिकांश चर्चा इस विषय पर होती है कि वे व्यक्ति के हाथ में हो या राज्य के हाथ में ? कुछ लोग यह भी कहते हैं कि उद्योग, व्यक्ति और सरकार, किसीके हाथ में न होकर उनके लिए स्वतंत्र कारपोरेशन बनानी चाहिए या उनके लिए उत्पादक श्रमिकों की सहकारी संस्था का संगठन करना चाहिए।

लेकिन शासन-मुक्त समाज को अगर स्थायी बनाना है, तो उद्योगो के लिए उपर्युक्त किसी भी प्रकार की व्यवस्था नाकामयाब सिद्ध होगी। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए तो समाज की सारी उत्पादन की प्रक्रिया, तालीम के माध्यम के रूप मे शिक्षण-व्यवस्था के हाथ में सौंप देनी होगी।

उत्पादन और शिक्षा : ८ :

कहा जा चुका है कि राज्य की शक्ति दंड-शक्ति होती है। हम शासन को चाहे जितना विघटित करके स्वावलवन विकसित करते रहे, व्यवहार मे शासन का कुछ-न-कुछ अवशेष रह ही जायगा, जितना हिस्सा शेप रह जायगा, उसके हाथ में अवशिष्ट दण्ड-शक्ति, याने दमन के साधन भी रह जायेंगे। जिसके हाथ मे दमन का साधन रहेगा, अगर उसीके हाथ में उत्पादन का साधन भी सौंपा जाय, तो निस्सदेह उत्पादन का उपयोग दमन की सहायता के लिए हो सकेगा। फलस्वरूप शासन-शक्ति पुनः सगठित होगी। इसलिए उत्पादन के साधन राज्य के हाथ मे देने मे श्रेय नहीं है। एक मिसाल से यह तथ्य ठीक-ठीक समझ मे आ जायगा। इस देश के सभी विचारशील लोग बहुत अर्से से सरकारी शासन-विभाग तथा न्याय-विभाग, दोनो को एक ही व्यक्ति के हाथ मे रखने का विरोध करते आये हैं। वे मानते रहे कि अगर शासन-विभाग के हाथ से न्याय का अधिकार हटा न लिया जाय, तो न्याय-सस्था का भी शासन की सहायता मे इस्तेमाल हो सकेगा।

सहयोग का आधार

स्वतन्त्र कारपोरेशन भी राज्य-द्वारा निर्मित होंगे और वे भी एक गुट मे परिणत हो सकेंगे। इसके अलावा इसमे मजदूरी

करनेवाले और मजदूर लगानेवाले के रूप में दो श्रेणियों का अवशेष रह जाता है। इसलिए श्रेणी-हीन समाज के संरक्षण के हित में ऐसी व्यवस्था भी शुभ नहीं होगी। अगर उत्पादन-श्रमिकों की कोआपरेटिव (सहयोगी) संस्था बनती है, तो प्रथमतः वह व्यक्तिगत मालिकी की बुनियाद पर ही बनेगी। दूसरी बात यह होगी कि औद्योगिक उत्पादक तथा कृषक उत्पादक या कच्चे माल के उत्पादक के बीच स्वार्थ-संघर्ष के बीज भी रह जायेंगे। अतः इन साधनों के लिए किसी नयी व्यवस्था की ही खोज करनी होगी।

हमने ऊपर बतलाया है कि सहकारी समाज के लिए पूर्ण विकसित मनुष्य का होना आवश्यक है। इसके लिए प्रत्येक मनुष्य का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा होना चाहिए। इतना ही नहीं बल्कि उसका आजीवन विकास होता रहना चाहिए। यही कारण है कि गांधीजी कहते थे—तालीम का क्षेत्र जन्म से मृत्यु तक का है, क्योंकि सांस्कृतिक विकास का शिक्षा ही एकमात्र साधन है।

ऐसी शिक्षा मनुष्य के नित्य जीवनक्रम तथा कर्म-सूची से अलग नहीं हो सकती, क्योंकि शासन को अनावश्यक बनाये रखने के लिए मनुष्य को प्रत्येक क्षेत्र में अपना सांस्कृतिक स्तर ऊँचा रखना होगा।

विकृति का निराकरण

इस तत्त्व को समझने के लिए मानव-प्रकृति का कुछ विश्लेषण करने की आवश्यकता है। गांधीजी कहते थे कि देवासुर का युद्ध हरएक मनुष्य में हमेशा चलता रहता है। अर्थात्, मानव-प्रकृति में संस्कृति तथा विकृति, दोनों का समावेश होता है। अगर शिक्षा को जीवन की कुछ अवधि तक सीमित रखा जाय

और फिर लोगो को अलग से व्यवहार चलाने के लिए छोड़ दिया जाय, तो विकृति के पुनर्विकास की गुंजाइश रह जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि मनुष्य की हर हरकत के साथ शिक्षा का अनुबंध हो। यही कारण है कि गांधीजी ने उत्पादन की प्रक्रिया, समाज-व्यवस्था का कार्यक्रम तथा प्रकृति को ही शिक्षा का माध्यम माना था, क्योंकि समाज के सारे कार्यक्रम इन्हीं तीन हिस्सो मे बाँटे जा सकते हैं

(१) आवश्यकता की पूर्ति के लिए उत्पादन, (२) समाज की व्यवस्था तथा (३) प्राकृतिक साधनों की खोज। इन तीनो विभागो मे जितने कार्यक्रम हैं, उनके ताने के साथ शिक्षा के कार्यक्रम का बाना डालकर जो समाज बनेगा, वही सच्चा शासन-मुक्त समाज होगा, क्योंकि हर कार्यक्रम के साथ शिक्षा तथा संस्कृति की प्रक्रिया का अनुबंध होने के कारण मनुष्य के अंतर्निहित विकारो का निरन्तर परिमार्जन होता रहता है और फलस्वरूप शासन की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती।

उत्पादन और शिक्षा

अतएव जब उत्पादन की सारी प्रक्रियाओ को शिक्षा का माध्यम बनाना है, तो ग्राम-उद्योग तथा राष्ट्र-उद्योग के सभी कार्यक्रम विभिन्न स्तर की शिक्षा-संस्थाओ की जिम्मेदारी पर चलेंगे। फिर अनिवार्य केन्द्रित उद्योगो के कारण आज जितने उद्योग-नगर दिखाई देते हैं, वे सब विश्वविद्यालय के रूप मे परिणत हो जायेंगे और आज जो संचालक, व्यवस्थापक, विशेषज्ञ तथा मजदूर के रूप मे विभिन्न वर्ग दिखाई दे रहे हैं, उनके बदले उन केन्द्रो की सारी जनता उत्पादक श्रमिक बन जायगी। उनमे से कुछ अध्यापक और कुछ विद्यार्थी भी होगे। अधिक वास्तविक स्थिति यह होगी कि वे सब शिक्षार्थी होंगे और उत्पादन की

प्रक्रिया के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान भी प्राप्त करेंगे। जिनको अधिक अनुभव तथा जानकारी रहेगी, वे कम अनुभवी तथा कम जानकार शिक्षार्थियों का मार्ग-दर्शन करेंगे। उन्हींमें से कुछ अधिक प्रतिभाशाली लोग विभिन्न प्रकार के प्रयोग तथा नये ज्ञान की खोज करेंगे।

ऐसे वातावरण में स्वभावतः लोगों का बौद्धिक तथा सांस्कृतिक स्तर ऊँचा रहेगा। फिर आपस में मिलकर सारी व्यवस्था चलाना सहज हो जायगा और ऊपर से संचालन की आवश्यकता नहीं रहेगी।

शासन-मुक्त समाज कैसे बने ? : ६ :

शासन-मुक्त समाज की कल्पना के साथ मुख्य प्रश्न यह उठता है कि उसे स्थापित कैसे किया जा सकेगा। वस्तुतः यह कल्पना कोई नयी कल्पना नहीं है। ईसा का पृथ्वी पर स्वर्ग-राज्य, कार्ल मार्क्स का 'शासनहीन समाज', प्रिन्स क्रोपाटकिन का 'अराजकतावाद' आदि सभी एक ही वस्तु की विभिन्न परिभाषाएँ हैं। एक व्यावहारिक क्रान्तिकारी के लिए जहाँ यह आवश्यक है कि वह अपने सामने सारी कल्पनाओं का स्पष्ट चित्र रखे, वहाँ यह भी जरूरी है कि वह अपनी कल्पना को मूर्तरूप देने के लिए स्पष्ट मार्ग भी बतलावे। बापूजी ने 'चरखा अहिंसा का प्रतीक है', कहकर मानव-समाज के लिए उस मार्ग का दिशानिर्देश किया। आज विनोबा उस इंगित को व्यावहारिक रूप दे रहे हैं। विनोबाजी ने इस नवक्रान्ति के कार्यक्रम को एक निश्चित सूत्र में बाँध दिया है। वह सूत्र है—"भूदानमूलक ग्रामोद्योग-प्रधान अहिंसक क्रांति।" इस छोटे-से सूत्र में शासन-

मुक्त समाज की व्यावहारिक क्राति के मार्ग का संपूर्ण दिशानिर्देश निहित है।

क्राति का साधन

क्रान्ति का आद्य साधन क्रान्तिकारी का जीवन है। अत उस जीवन का स्वरूप क्या हो, इस पर विचार सबसे पहले करने की आवश्यकता है। स्पष्ट है कि वह जीवन क्रान्तिमत्र के अनुरूप तथा सकल्पित समाज के अनुकूल होना चाहिए। इसलिए क्राति की प्रक्रिया मे प्रथम आवश्यकता इस बात की है कि क्रान्तिकारी कार्यकर्ता अपने आपको शोषण-मुक्त बनाने की दिशा मे योजनापूर्वक कदम उठावे। याने, श्रमिको के शोषण का त्याग करने की दिशा मे और श्रम-जीवन स्वीकार करने की दिशा मे शीघ्रता से आगे बढे। वे अपनी जीविका यथासभव शरीर-श्रम से ही उपार्जित करे और पैतृक सस्कार के कारण उसमें जो कुछ कमी रह जाय, उसकी पूर्ति श्रमिको से श्रमदान मांगकर ही करे।

लोग पूछेंगे, अगर पैतृक कमी दान से ही पूरी करनी है, तो उसे श्रम-दान से ही कराने का आग्रह क्यों ? आखिर श्रमिक का श्रम तो हमे अपने उपभोग के लिए लेना ही पडेगा, तो शोपक-वर्ग भी तो इसी प्रक्रिया से काम लेता है। वही वर्ग अपने शोपण मे हिस्सा निकालकर हमारी कमी पूरी कर दे, तो उसमे आपत्ति क्यो हो ?

दिल और दिमाग की एकता

इस आपत्ति का मनोवैज्ञानिक आधार है। पुरानी कहावत है, 'जिसका नमक खाना है, उसीका गुण गाना है।' यह बात यदि सही है, तो शोपण-मुक्ति की क्रान्ति मे हमारा शोपणों की सहायता से जीना शोपको का शोपण कायम रखने के पक्ष मे आशीर्वादस्वरूप होगा। आत्मरक्षा प्रकृति का नियम है,

आत्महत्या नहीं। जिसके आधार पर आत्मरक्षा संभव है, उसीकी सगलाकांक्षा स्वाभाविक है। बहुत-से पराक्रमी साथी यह कह सकते हैं कि जब हम विचारपूर्वक, आत्मरक्षा के लिए, शोषकों के शोषण पर निर्भर रहेंगे, तो फिर हमसे ऐसी गलती क्यों होगी? वस्तुतः इस मामले में हमें अत्यन्त सतर्क रहने की आवश्यकता है। भीष्म-द्रोण जैसे स्थितप्रज्ञ तपस्वियों के लिए जो चीज असंभव साबित हुई, उसकी चेष्टा हम न करें, इसीमें श्रेय है। भीष्म, द्रोण के दिल और दिमाग में पांडवों की हिताकांक्षा थी, लेकिन उनका कर्म दुर्योधन के संरक्षण के लिए ही हुआ।

संस्था और क्रांति

इस उदाहरण का मतलब यह नहीं है कि हम उनकी सहायता नहीं लेंगे जो अपने श्रम से ही गुजारा नहीं करते। वस्तुतः हमारी क्रांति, पद्धति-परिवर्तन की क्रांति है। उसमें व्यक्तियों का बहिष्कार या निषेध नहीं है। इसलिए हम व्यक्तियों को अपने साथ लेकर ही आगे बढ़ेंगे, क्योंकि हम शोषण का अन्त करना चाहते हैं, शोषक का नहीं। अतएव हमें विचार तथा आयोजन-पूर्वक अनुत्पादक व्यक्तियों से सहायता लेनी है। यह सहायता श्रम-दान के रूप में ही होगी। हम उनसे प्रत्यक्ष श्रम-दान तथा उनकी श्रम-उत्पादित सामग्री का दान माँगेंगे। इस आवाहन से उन्हें भी वर्ग-परिवर्तन की प्रक्रिया में शामिल होने का मौका मिलेगा। यदि हम शोषण पर जीनेवाले साधन-संपन्न वर्ग से जीविका की सामग्री लेंगे, तो उसमें यह क्रांतिकारी तत्त्व नहीं रहेगा। क्रान्ति के वाहन के रूप में, क्रान्तिकारी संस्था का दूसरा स्थान है। इसलिए संस्थाओं के स्वरूप पर भी विचार करने की आवश्यकता है। व्यक्ति की तरह संस्था को भी अपना निर्वाह

अपने सदस्यों के श्रम से तथा जितने क्षेत्र में वह संस्था क्रान्ति का प्रसार करती हो, उस क्षेत्र के श्रमदान से ही करना चाहिए। यही कारण है कि विनोबा अपनी क्रान्ति का आन्दोलन चलानेवाली संस्थाओं को सूतांजलि से ही निर्वाह करने के लिए कहते हैं।

जिस प्रकार व्यक्ति तथा संस्था के शुद्धिकरण के साथ समाज-क्रान्ति का कदम आगे बढ़ता जायगा, उसका क्रम कुछ निम्न प्रकार का हो सकता है।

संस्था से क्रान्ति नहीं

शासन-मुक्त समाज की ओर अगर सफलता के साथ कदम बढ़ाना है, तो सर्वप्रथम हमें अपनी काम करने की पद्धति में परिवर्तन करना होगा। अब तक हम संस्थानिष्ठ, याने केन्द्रवादी तरीके से काम करते रहे हैं। आज सर्व-सेवा-संघ, या भूदान-समिति के कार्यकर्ता, लोगों से अपील करते हैं, जमीन लेते हैं, और भूमि-वितरण तथा उसके बाद का भी काम वे स्वयम् ही करते हैं। पिछले पच्चीस या तीस साल से सभी रचनात्मक संस्थाओं का कार्य इसी ढंग से चलता रहा है। अब तक ऐसा करना जरूरी भी था, क्योंकि लोकमानस में इस क्रान्ति की आवश्यकता का बोध नहीं था। लेकिन अब हमें जनता के अपने प्रत्यक्ष नेतृत्व तथा उसकी व्यवस्था शक्ति के आधार पर ही काम की प्रगति करनी है, नहीं तो शासन-मुक्ति के लिए अवश्य जन-शक्ति का निर्माण नहीं हो सकता।

इस प्रक्रिया के लिए आवश्यक यह है कि हम गाँव-गाँव में 'सर्वोदयी क्रान्ति' का विचार फैलायें और उसके अमल के लिए ग्राम-समितियों का संगठन करें। भूमि-प्राप्ति, वितरण, श्रम-दान-यज्ञ कृषि-सुधार, केन्द्रित उद्योगों का बहिष्कार तथा ग्रामोद्योगों

का संगठन आदि सभी कार्यक्रम समिति की प्रेरणा से ही चलने चाहिए। संस्था के कार्यकर्ता केवल मार्ग-प्रदर्शक का काम करें। हो सकता है किसी उत्साही गाँव मे योग्य नेतृत्व न हो। तो जिस योग्यता के आदमी उस गाँव मे मिले, उन्हींकी समिति बननी चाहिए तथा उन्हींकी मार्फत सारा काम हो, ऐसा आग्रह रखना चाहिए। फर्क इतना ही होगा कि ऐसे गाँव मे कार्यकर्ता अपना अधिक समय मार्ग-दर्शन के लिए दे तथा समुचित शिक्षण द्वारा गाँववालों में योग्यता का विकास करें।

स्वतंत्र लोक-शक्ति

इस तरह भूमि-प्राप्ति आदि कार्यक्रम के माध्यम से स्वतंत्र लोक-शक्ति के विकास के लिए ग्राम समाज के संगठन की चेष्टा की जाय। जब आर्थिक संगठन के सिलसिले में काफी बड़े-बड़े क्षेत्रो में ऐसी जन-शक्ति का निर्माण होगा, तब निम्नलिखित योजना के साथ शासन-विघटन की प्रक्रिया शुरू हो सकेगी। उस समय ग्राम-समितियो का यह आपसी सगठन, शासन द्वारा सचालित ग्राम-व्यवस्था के मदो की सूची तैयार करेगा और यह निर्णय करेगा कि उनमें से कितने विभागो का काम वह अपनी स्वतंत्र शक्ति से चला सकता है। उसे यह आत्मविश्वास हो जाने पर कि वह अमुक विभाग अपने आप सम्हाल सकता है, वह सरकार से उन विभागो का अपने लिए दान मॉगेगा। ग्राम समाज के लोग सरकार से कहेंगे कि इतने विभागो की व्यवस्था आप हमे सौंप दे और उन विभागो के खर्च के अनुपात मे हमसे कर लेना भी बंद कर दे।

इस तरह भूमिदान-यज्ञ से शुरू कर क्रमश सत्ता-दान-यज्ञ आन्दोलन पर पहुँचना होगा।

उपर्युक्त परिवर्तन करने के लिए हमे अपनी संस्थाओ के

रूप मे परिवर्तन करना चाहिए। आज की दफ्तर-प्रथा की जगह आश्रम-प्रथा स्थापित करनी होगी। अखिल भारतीय दफ्तर तथा प्रांतीय दफ्तरो से लेकर छोटे-छोटे क्षेत्रो के दफ्तरो तक, सभी आश्रम का रूप ले लेगे। इनमें कुछ जमीन कृषि के लिए होगी तथा फुरसत के समय उत्पादक श्रम के लिए कुछ ग्रामोद्योगों की भी योजना रहेगी।

उत्पादक श्रम का स्थान

सामान्यत समाज के हर व्यक्ति को उत्पादक श्रम से ही अपना गुजारा करना होगा और कुछ व्यवस्था, शिक्षा आदि उत्पादक शुद्ध मानसिक श्रम का समाज को सेवा के रूप में दान देना होगा। लेकिन आज की परिस्थिति में सस्थाओ के सेवक उस मजिल तक नहीं पहुँच सकेंगे। उन्हे व्यवस्था आदि का काम विशेष मात्रा मे करना होगा। इसलिए काम के समय का आधा हिस्सा उत्पादक प्रवृत्ति तथा आधा हिस्सा व्यवस्था आदि कार्य मे लगाना होगा। जितने समय के लिए उत्पादक परिश्रम करेंगे उतने मे जिस अनुपात से उत्पादन होगा, उसी हिसाव से, व्यवस्था-कार्य के लिए समाज से 'दान' लेकर काम चलाना होगा। साथ-साथ इस वात की कोशिश करनी होगी कि यह दान भी श्रमदान या प्रत्यक्ष श्रमोत्पादित सामग्री का दान हो।

लेकिन पूर्व सस्कार के कारण आज हम सेवको की इस हद तक बढने की तैयारी नहीं है। हम चाहे जितनी कोशिश करे, इस जीवन मे पूर्ण उत्पादक श्रमिक के रूप मे हम अपना परिवर्तन शायद ही कर सकेंगे। अत. जितना हम अपने श्रम से उत्पादन करेंगे उसके अनुपात से भी अधिक सामग्री अपने गुजारे के लिए समाज से दान के रूप मे लेकर हमे समझौता करना पडेगा। लेकिन इसे हम अपनी कमाई न मानकर

'सहायता' मानेंगे और एक ओर से उत्पादन शक्ति में वृद्धि तथा दूसरी ओर से अपना खर्च कम करते हुए इस सहायता की रकम घटाने की निरन्तर कोशिश करते रहेंगे।

सेवक क्या करेगा ?

इस प्रकार संस्था के सेवक को संस्था के दायरे से बाहर निकालकर प्रत्यक्ष जनशक्ति के आधार पर आन्दोलन का संघटन करना होगा। लेकिन उसके साथ-साथ उसे इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि अहिंसक समाज में संस्थाओं का स्वरूप भी आज जैसा नहीं रहेगा। इसलिए आन्दोलन को केवल संस्था का आधार छुड़ाना होगा, ऐसी बात नहीं है, बल्कि संस्था के रूप में आमूल परिवर्तन के लिए सक्रिय कदम उठाना होगा।

शासन-मुक्त या शासन-निरपेक्ष समाज में शासन का अवशेष रहेगा ही, लेकिन जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उसकी शक्ति गौण होगी और जनशक्ति मुख्य होगी। लेकिन जनशक्ति सचेतन तभी हो सकती है, जब उसे निरन्तर सक्रिय नेतृत्व मिलता रहे, इसलिए शासन-निरपेक्ष समाज के लिए यानी वास्तविक लोकशाही के लिए समाज में तीन संस्थाओं की आवश्यकता होगी :

(१) जननायक,
(२) जनशक्ति या जनमत और
(३) जन-प्रतिनिधि।

जननायक संस्था जनशक्ति का निर्माण करेगी और यह शक्ति जन-प्रतिनिधि को निर्देश देगी।

इस प्रकार अहिंसक समाज में सबसे शक्तिशाली संस्था सेवक-संस्था होगी। ऐसी सेवक-संस्था का स्वरूप क्या हो; यह प्रश्न लोकनीति में उसी प्रकार सबसे अधिक महत्त्व का है, जिस

प्रकार राज्य-संस्था का स्वरूप-निर्णय राजनीति में सबसे अधिक महत्त्व का होता है।

इसी प्रश्न का विवेचन करते हुए संत विनोबा ने पुरी के ऐतिहासिक सर्वोदय-सम्मेलन मे संसार के समक्ष घोषणा की कि 'अहिंसक समाज मे सेवा सार्वभौम और सत्ता सेविका होगी।' लेकिन सार्वभौम सेवा की संस्था अगर आज के स्वरूप में रह जाय तो क्या वह सेवा की ही संस्था के रूप में कायम रह सकेगी ?

सेवक और संस्था

आज सेवक-संस्थाएँ भी उसी प्रकार से संचालित और अनुशासित हैं जिस प्रकार से राज्य-संस्थाएँ हैं। ऐसी स्थिति में अगर आज की सेवक-संस्था राज्य-संस्था से इतनी अधिक शक्तिशाली हो जाय कि वह राज्य का भी नियंत्रण करने लगे तो ऐसी संस्था राज्य के ही स्थान पर आरूढ हो जायगी। कारण, संस्था को जब संचालन-कार्य ही करना है तो वह कार्य राज्य की मार्फत न करके खुद ही करने लगेगी। अत अहिंसक समाज में जिस शक्तिशाली सेवक-संस्था की कल्पना की गयी है, उसका स्वरूप भी कुछ और होगा।

ऐसी सेवक-संस्था मे सेवक सार्वभौम और संस्था सेविका होगी। जनसेवक स्वतंत्र जननायक के रूप मे जनता मे विलीन होकर रहेंगे और जनशक्ति का निरन्तर आवाहन करते रहेंगे। जनकल्याण के यज्ञ मे उनका पौरोहित्य होगा, लेकिन स्वतंत्र रहते हुए भी वे विछिन्न नहीं रहेंगे। वे सेवक-संस्था बनायेंगे अवश्य, लेकिन रेशम के कीडे की तरह अपनी बनायी हुई संस्था के अन्तर्गत नहीं रहेंगे। जिस प्रकार मकडी अपने बनाये हुए जाल के ऊपर रहती है, उसी तरह वे उसे अपने ध्येय की पूर्ति के

लिए इस्तेमाल करेंगे। आज जनता सीधे संस्था की पोषक होती है, और संस्था सेवक की। उस समय जनता सीधे सेवक को पोषण देगी और सेवक संस्था को। जनता द्वारा यह पोषण भी सेवक के श्रम के विनिमय के रूप मे होगा, न कि उसकी परवरिश के रूप मे। इसके रूप की चर्चा हम पहले ही कर चुके है।

अतएव इस क्रान्ति के सेवक केवल आन्दोलन को ही संस्था-मुक्त नहीं करेंगे, बल्कि खुद भी अपने को तंत्र-मुक्त कर जनशक्ति के आधार पर भरोसा करके उसमे विलीन होने की चेष्टा करेंगे। हमारे सेवक ज्यों-ज्यो इस ओर बढ़ेंगे त्यो त्यो वे शासन-मुक्त समाज की ओर आन्दोलन की प्रगति कर सकेंगे।

वर्ग-विषमता की समस्या : १० :

यह स्पष्ट है कि शासन-मुक्त समाज का स्वरूप संचालित न होकर सहकारी होगा। सहकार समान स्तर के लोगो के बीच ही हो सकता है। जब तक विषमता रहेगी, तब तक सहकार नहीं हो सकेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि शासन-मुक्त समाज में वर्ग-विषमता न हो। लेकिन जिस तरह राजनैतिक क्षेत्र मे सर्वाधिकारी राज्यवाद (Totalitarianism) की समस्या आज का मुख्य सवाल है, उसी तरह सामाजिक क्षेत्र मे वर्ग-विषमता के संकट ने आज सबसे ऊपर का स्थान ले लिया है। समाज आज दो निश्चित तथा विरोधी वर्ग मे विभाजित हो गया है। एक वर्ग उत्पादन करता रहता है और दूसरा व्यवस्था के बहाने उत्पादित सामग्री का उपभोग करता रहता है। साधारण भाषा मे कहना होगा कि एक मेहनत करके खाता है और

दूसरा दलाली करके, और हम अक्सर एक को 'मजदूर' और दूसरे को 'हुजूर' कहते हैं।

शोषण के प्रकार

वर्ग-विषमता की यह सामाजिक समस्या कोई स्वतंत्र समस्या नहीं है। यह राजनैतिक तथा आर्थिक केन्द्रीकरण का नतीजा-मात्र है। इस बात को विशेष रूप से समझना चाहिए। आखिर हुजूर लोग मजूरों का शोषण किस तरह करते है? इस पर से बचपन मे पढी हुई बिल्ली और बदर की एक छोटी-सी कहानी याद आती है। दो बिल्लियाँ मेहनत करके रोटियाँ लायी थीं और बदर उस रोटी का माकूल बँटवारा करने के बहाने उसे खा गया। उसी तरह मजदूर रोटी का उत्पादन करता है और हुजूर लोग इन्तजाम करने के बहाने वह रोटी खा जाते हैं। मजदूर केवल पेट पर हाथ रखकर ताकते रहते हैं।

यही कारण है कि आज ससार मे चारो ओर से वर्गहीन समाज कायम करने की माँग सुनायी पडती है, लेकिन यह वर्गहीन समाज कायम कैसे हो? अगर दुनिया मे एक ही वर्ग रखना है तो वह मजदूरो का यानी श्रमिको का ही एक वर्ग हो सकता है, क्योंकि हुजूर-वर्ग यानी व्यवस्थापक-वर्ग अकेला अपने पैर पर खडा नहीं रह सकता। अत वर्गहीन समाज कायम करने के लिए आवश्यक है कि इस हुजूर-वर्ग का लोप हो। इस वर्ग को विघटित करने का तरीका तभी मालूम हो सकेगा, जब हम इसके सगठित होने के इतिहास को समझ ले।

हुजूर-वर्ग कैसे बना?

मानव-समाज के प्रथम युग मे सभी लोग मजदूर थे—सब उत्पादन करके खाते थे और सब सहयोगिता के आधार पर

झुंड मे रहते थे। इसी कारण हमारी किताबो मे लिखा है कि सत्य-युग में एक ही वर्ण था। बाद को जब समाज मे प्रतियोगिता का आविर्भाव हुआ तथा आपसी संघर्ष के नतीजे से हिसा होने लगी, तब मनुष्य ने राजा की सृष्टि की, यानी राज्य के रूप मे एक ऐसी संस्था की सृष्टि की जिससे कुछ लोग बिना उत्पादन किये व्यवस्था करके अपना गुजारा कर सकते थे। इस तरह राज्य-पद्धति के आविष्कार से हुजूर-वर्ग की सृष्टि हुई। जैसे-जैसे राज्य-प्रथा केन्द्रित और विस्तृत होती गयी, वैसे-वैसे उसीके सहारे हुजूर-वर्ग का विस्तार हुआ। उसी तरह मनुष्य ने श्रम टालने के लिए पूंजी के आधार पर जिस उत्पादन-पद्धति का आविष्कार किया, उसी पद्धति के अनुसार उद्योग-धंधो के संचालन तथा उत्पादित सामग्री के वितरण के बहाने एक दूसरी जाति के हुजूरो की विराट् फौज खड़ी हो गयी। दोनो मिलकर मजदूर पर इतना अधिक बोझ हो गया कि आज मजदूर उसके नीचे दबकर मरना चाहता है।

हुजूर बनाने के कारखाने

सिर्फ इतना ही नहीं, मौजूदा शिक्षा-पद्धति की खराबी के कारण शिक्षित समाज के लोगो मे किसी प्रकार के उत्पादन का काम न कर सकने के कारण उनमें से जो लोग व्यवस्था तथा वितरण-कार्य नही करते हैं, वे भी किसी-न-किसी तरीके से मजदूरो के कंधो पर बैठे रहते हैं। वस्तुत. आज के स्कूल और कालेज हुजूर बनाने के कारखाने-मात्र बने हुए है। अतएव जैसे-जैसे इस कारखाने से लोग निकलते जाते हैं, वैसे-वैसे मजदूरो के कन्धो पर बोझ चढ़ाते जाते हैं। इस प्रकार राजनैतिक तथा आर्थिक केन्द्रीकरण के अलावा वर्तमान शिक्षा-पद्धति यह विषमता तेजी से बढ़ा रही है।

फलत राजनैतिक तथा आर्थिक केन्द्रीकरण के नतीजे से आज मजदूरो के कन्धो पर हुजूरो के बोझ की वृद्धि के कारण केवल मजदूर ही दबकर मर रहा है, ऐसी बात नहीं है, बल्कि सख्याधिक्य होने के कारण हुजूर लोगों को भी मजदूरों के शरीर से इतना रस नहीं मिल रहा है, जिससे वे मोटे-ताजे रह सकें, इसलिए वे भी सूखकर मर रहे हैं। इस प्रकार आज दोनों के सामने सकट खडा है यानी सारा ससार ही वर्ग-विषमता की आग से भस्म होना चाहता है। ऐसी हालत मे आवश्यकता इस बात की है कि तत्काल और तुरत एक महान् क्रान्ति के द्वारा पूर्ण रूप से एक वर्गीय समाज कायम हो, अर्थात् हुजूर-वर्ग के विघटन से मजदूरो का ही एक अद्वैतवादी समाज कायम हो।

क्रान्ति की दो प्रक्रियाएँ

प्रश्न रह जाता है कि इस क्रान्ति की प्रक्रिया क्या हो ? दो ही तरीके हो सकते हैं, एक वर्ग-सघर्ष का हिसात्मक तरीका, दूसरा वर्ग-परिवर्तन की अहिसात्मक क्रान्ति। एक विनाशकारी तरीका, दूसरा क्रान्तिकारी तरीका। पहले तरीके से मजदूर द्वारा हुजूरों के उन्मूलन की चेष्टा होगी और दूसरे तरीके से हुजूर मजदूर बनकर मजदूरो मे विलीन होगे। पहले तरीके की दूसरे मुल्को मे काफी आजमाइश हो चुकी है और हमने देखा कि उसका कोई नतीजा नहीं निकलता है, बल्कि एक समस्या से निकलकर दूसरी उससे जटिल समस्या के नीचे समाज पड जाता है। रूस मे उन्मूलन की चेष्टा हमने देखी। वहाँ हुजूर-वर्ग खत्म नहीं हुआ। उनकी केवल चोटी ही कट गयी। सारा शरीर ज्यो-का-त्यो रह गया। पूजीपतियो का नाश हुआ सही, लेकिन वहाँ इतना जबरदस्त एक व्यवस्थापक राज्य कायम हुआ कि इस व्यवस्था के नाम पर ही हुजूर-वर्ग का इतना अधिक सगठन

हुआ कि मजदूर पूर्ण रूप से उसके नीचे दब गया। पूँजीपति-रूपी चोटी रहने पर जनता कभी-कभी उसे पकड़ भी सकती थी, लेकिन अब तो उससे भी हाथ धो बैठी और एक भयंकर संगठित दल की मुट्ठी के नीचे चली गयी।

उन्मूलन की प्रक्रिया

उन्मूलन की प्रक्रिया हिंसा की प्रक्रिया है। इसलिए इस तरीके से केवल ऊपर लिखे मुताबिक तात्कालिक और व्यावहारिक संकट ही आयगा, ऐसी बात नही। मानव-समाज में एक स्थायी संकट कायम हो जायगा। आखिर हम वर्ग-विषमता क्यो दूर करना चाहते हैं? इसलिए कि हम हिंसा से मुक्त होकर दुनिया मे शान्ति कायम कर सके। हिंसा को माननेवाले कहते हैं कि वे भी दुनिया मे हिंसा खत्म करके शान्ति कायम करना चाहते हैं। परन्तु वे कहते हैं, कॉटा निकालने के लिए कॉटा ही चाहिए, मालिश से वह नहीं निकलेगा। यानी हिंसा से ही हिंसा का अन्त होगा, प्रेम से नही। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या हिंसा से हिंसा का अन्त होगा? जो लोग इस प्रकार सोचते है, वे विज्ञान को भूल जाते है। विज्ञान का कहना है कि हरएक क्रिया की समान प्रतिक्रिया होती है और इस क्रिया-प्रतिक्रिया का घात-प्रतिघात अनन्तकाल तक चलता है। अतः अगर हिंसा की क्रिया होगी तो उसकी प्रतिक्रिया प्रतिहिंसा ही होगी और हिंसा-प्रतिहिंसा का घात-प्रतिघात अनन्तकाल तक चलता रहेगा। फिर किस काल मे जाकर हिंसा समाप्त होकर शान्ति की स्थापना होगी।

इसलिए गांधीजी हमसे वर्ग-परिवर्तन की अहिंसक क्रान्ति करने का आवाहन करते रहे हैं।

वे हुजूर-वर्ग को सामाजिक उत्पादन में शामिल होकर उत्पादक-वर्ग मे विलीन होने के लिए कहते थे और इसका सक्रिय कार्यक्रम देश के सामने रखते थे। सन् १९४५ मे जेल से निकलते ही उन्होंने कहा कि अंग्रेज तो जा रहे हैं और शायद हम जैसा समझते हैं, उससे जल्दी ही जायँगे। अब हमे शोषण-हीन समाज कायम करने के लिए सक्रिय कदम उठाना है। इसके अमल के लिए उन्होंने कहा कि जो लोग खादी पहनना चाहते हैं, उन्हें दो पैसे प्रति रुपये का सूत कातना ही होगा। उसी तरह उन्होंने कहा कि जो लोग खाना खाना चाहते हैं, उन्हे अपने हाथ से अन्न-उत्पादन करना ही है। इन बातो पर वे यहाँ तक जोर देते थे कि कलकत्ते के लोगो के यह कहने पर कि उनके पास जमीन कहाँ, जहाँ वे अन्न-उत्पादन कर सकते हैं, उन्होंने कहा कि गमले मे ही सही, लेकिन नियमित रूप से अन्न-उत्पादन की प्रक्रिया हरएक को अपने हाथ से करनी ही है।

यह स्पष्ट है कि गांधीजी जैसे व्यावहारिक क्रान्तिकारी व्यक्ति यह नहीं समझते थे कि दो पैसे के सूत कातने-मात्र से या गमले मे अन्न-उत्पादन करने से देश के अन्न-वस्त्र की समस्या हल हो जायगी या उतने ही से हुजूर-वर्ग के लोग मजदूर बन जायँगे, लेकिन क्रान्ति तो पहले विचार-क्षेत्र मे ही होती है। गांधीजी सामान्य लाक्षणिक उत्पादन से पहले लोगों के दिमाग में क्रान्ति लाना चाहते थे ताकि वे निरन्तर अपने हाथ से उत्पादन करने के महत्त्व को समझें और थोडा-सा उत्पादन करके उत्पादक-वर्ग में सम्मिलित होने की क्रान्ति मे शामिल हैं, यह बात जाहिर करें यानी गांधीजी के इस आन्दोलन के रजिस्टर मे नाम लिखा ले।

शिक्षा-पद्धति में क्रान्ति

इसी प्रकार वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति की दिशा मे दूसरे हल्के-

हल्के सक्रिय कार्यक्रम रखते थे। वे बाबू वर्ग के लोगों को अपने व्यक्तिगत काम के लिए घरेलू नौकर से काम न लेने की बात कहते थे। अपने आदर्श के अनुसार संचालित आश्रमों मे पाखाना-सफाई से लेकर खाना बनाने तक सभी काम अपने हाथ से करने की विधि रखकर श्रम-प्रतिष्ठा पर जोर देते थे। अन्त मे उन्होंने वर्ग-परिवर्तन का एक महान् क्रान्तिकारी तथा व्यावहारिक कार्यक्रम दुनिया के सामने रखा, वह था शिक्षा-पद्धति मे आमूल परिवर्तन। उन्होंने कहा कि शिक्षा के लिए वर्तमान हुजूर बनाने के कारखानों को बंद कर दिया जाय और सारी शिक्षा-योजना शरीर-श्रम द्वारा उत्पादन की प्रक्रिया के माध्यम से ही बनायी जाय। ऐसा करने से मजदूर वर्ग के लोगों को शिक्षित करने में उन्हें मजदूरी के कार्य से उखाड़ने की आवश्यकता नहीं होती है और मजदूर रहते हुए वे शिक्षित हो जाते हैं। बाबू लोगों के लड़के भी बचपन से ही उत्पादन-कार्य मे अभ्यासी होने के कारण समर्थ उत्पादक बन जाते है। इस तरह नयी तालीम के द्वारा देश मे शिक्षित तथा वैज्ञानिक मजदूरों का एक-वर्गीय समाज कायम हो जाता है।

समग्र ग्राम-सेवा का कार्य

गांधीजी उपर्युक्त मनोविज्ञान तथा शैक्षणिक कार्यक्रम मात्र से ही संतुष्ट नहीं थे। यह सही है कि अहिंसा मे इन प्रक्रियाओं का सबसे अधिक महत्त्व है, लेकिन साथ ही अगर समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन किया न जाय तो प्रतिकूल परिस्थिति में मनोवैज्ञानिक तथा शैक्षणिक कार्यक्रम भी विफल हो सकता है। इसलिए वे देश को एक महान् सामाजिक क्रान्ति के लिए तैयार करना चाहते थे। इस दिशा मे उन्होंने मुल्क के सामने समग्र ग्राम-सेवा द्वारा जन-स्वावलंबन का कार्यक्रम

रखा। जहाँ वे हुजूरों के विवेक पर असर कर उन्हें मजूर बनने की प्रेरणा देते थे, वहीं वे देहाती उत्पादक-वर्ग के लोगों में इस बात की चेतना पैदा करना चाहते थे कि वे हुजूरों की उन सेवाओं को इनकार करने की शक्ति संगठित करें, जिनके बहाने हुजूर लोग उनका शोषण करते रहे हैं, अर्थात् बन्दर और बिल्ली की कहानी की भूमिका में अगर कहा जाय तो जहाँ वे बन्दरों को अपने-आप रोटी पैदा करके गुजर कर शोषण छोड़ देने की बात कहते थे, वहाँ बिल्लियों को अपने आप रोटी बाँटकर खाने का संदेश सुनाते थे, ताकि उन्हें किसी दूसरे के पास रोटी बँटवाने की सेवा लेने के लिए न जाना पड़े।

उन्होंने इस आन्दोलन के लिए सबसे पहले नेतृत्व की तब्दीली की बात की। आज जितने भी आन्दोलन चल रहे हैं उनके नेतृत्व बाबू वर्ग के लोगों के ही हाथ में हैं, हालाँकि जिस प्रकार मैंने पहले भी कहा है, वे हितैषी बाबू लोग हैं। लेकिन वर्ग-हीन समाज कायम करने का नेतृत्व अगर ऐसे लोगों के हाथ में रहे, जिनमें उत्पादन करके अपना गुजारा करने की शक्ति नहीं है, तो आन्दोलन के सफल होने पर यह नेतृत्व बिना पैदा करके खाने का कोई-न-कोई जरिया ढूँढ लेगा, यानी वे स्वावलंबी समाज की बात न सोचकर संचालित समाज की ही बात करेंगे, क्योंकि ऐसे समाज में संचालक का काम करने के लिए उनकी आवश्यकता होगी अर्थात् नेतृत्व अगर जिनके हाथ में आज है उन्हीं पर रह गया तो आन्दोलन को धोखा होने की पूर्ण संभावना रहती है। इसलिए गांधीजी ने पहला नारा यह लगाया कि हमें इस समाज-क्रान्ति के लिए सात लाख नौजवान चाहिए, जो सात लाख गाँवों में जाकर वर्ग-परिवर्तन कर उत्पादक श्रम द्वारा अपना गुजारा करें और समग्र ग्राम-सेवा से प्रत्येक देहात

को स्वयंपूर्ण बनावे। यही कारण है कि आज विनोबा गांधी-मंत्र के आधार पर जो क्रान्ति चला रहे है, उसके सेवको को गाँव-गाँव मे सक्रिय रूप से उत्पादक श्रम करते हुए क्रान्ति का प्रचार करने को कहते है और क्रान्तिकारी संस्थाओं को श्रमदान के आधार पर ही अपना संघटन चलाने को कहते हैं।

हुजूर मजूर बनें

गांधीजी ने यह स्पष्ट रूप से देख लिया था कि आज मजदूर-वर्ग बेहोश है। अतः उनका नेतृत्व किसी बाहोश व्यक्ति को ही करना होगा। ऐसा होश हुजूर-वर्ग के लोगो मे ही है, अतः उन्हींको मजदूर बनकर नेतृत्व तब्दीली का उद्देश्य सिद्ध करना होगा। मजदूर से तो कहना होगा कि तुम अपना काम अपने-आप चलाओ और दूसरे द्वारा अपने को शोषित न होने दो, पर ऐसी बात कहे कौन? क्या हम कहनेवाले उनसे यह बात कहे कि हम तुम्हें रास्ता बताने की सेवा देते हैं, अतः हमारी सेवा तो ले लो और उसके एवज मे हमको बिना पैदा करके खाने दो लेकिन दूसरे की ऐसी सेवा लेने से इनकार करो जिससे वे बिना पैदा करके तुम्हारे श्रम से उत्पादित सामग्री का उपभोग न कर सकें, क्या ऐसा कहना सुसंगत होगा? इस प्रकार विश्लेषण कर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्गहीन समाज की क्रान्ति के नेतृत्व के लिए सबसे पहले देश के हुजूर-वर्ग के नौजवानो को मजदूर बनकर मजदूरो मे विलीन होना होगा और शोषण की प्रक्रिया से असहयोग करने का आन्दोलन चलाना होगा, वरना वर्गहीन समाज की बात कोरे आदर्श के रूप मे रह जायगी।

इस तरह गांधीजी ने सात लाख नौजवानो को मजदूर बनकर मजदूरो का प्रत्यक्ष नेतृत्व स्थापित करने के बाद देहाती जनता की आवश्यकताओ की पूर्ति तथा आतरिक व्यवस्था के

लिए स्वावलंबी वनाने का सगठन करने को कहा, जिससे वे समाज मे अति विकसित व्यवस्थापकों तथा वितरको के हाथ से मुक्ति पा सके। इस दिशा में उन्होने चरखा सघ आदि सस्थाओ के कार्यक्रमों मे आमूल परिवर्तन किया, जिससे सभी कार्यक्रम पूर्ण ग्राम-स्वावलवन की दिशा मे चल सके।

सक्षेप मे गाधीजी ने परिवर्तन की दिशा मे दुनिया को दुधारा मंत्र दिया। शोपक-वर्ग को शोषण छोडकर उत्पादक वनने के लिए उनकी विवेक-वुद्धि को जाग्रत किया और शोपित-वर्ग को शोपण से असहयोग करने का सगठन करने को कहा, जिससे शोपक-वर्ग को अव शोपण करने की गुजाइश नहीं रह जायगी, ताकि परिस्थिति की मजवूरी के कारण वे अपने को मजदूर वनाकर वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति की ओर अग्रसर हो सके।

व्यक्ति नहीं, पद्धति वदलनी है

उपर्युक्त आन्दोलन के सदेश से उन्होने दुनिया को एक नया मत्र दिया। उन्होने क्रान्ति का एक नया क्रान्तिकारी तरीका वताया। वस्तुत व्यक्ति कुछ नहीं है, पद्धति ही असली चीज है। उसीके कारण मनुष्य सुखी या दु खी होता है। अत अगर दु ख से मुक्त होना चाहते हो तो पद्धति वदलो, न कि व्यक्ति। सच पूछिये, तो केन्द्रीय राज्यवाद तथा पूँजीवाद के कारण व्यवस्था-वितरण का जो कार्य है, उसीने हुजूरो की आवश्यकता की सृष्टि की और जव तक समाज मे उस कार्य की आवश्यकता रहेगी तव तक यह वर्ग किसी-न-किसी नाम से कायम रहेगा। इसलिए गाधीजी विकेन्द्रित तथा स्वावलंवी उत्पादन और व्यवस्था द्वारा उस कार्य को ही समाप्त करना चाहते थे, जिसके

कारण आज की वर्ग-विषमता का संकट संसार भर मे फैल गया है।

श्रम-विभाजन की वात

देश के पढ़े-लिखे लोगो को जव यह वात वताई जाती है तो वे कहते हैं कि आप एकतरफा वात कहते है। यह क्या जरूरी है कि सभी लोग शारीरिक और मानसिक दोनो श्रम करे? वे श्रम-विभाजन की वात करते हैं। वे कहते है कि आखिर सव व्यक्तियो की प्रकृति, प्रवृत्ति तथा संस्कृति एक-सी नहीं होती। वे कहते हैं कि प्रकृति की विचित्रता के कारण विभिन्न व्यक्तियो मे विभिन्न शक्तियाँ होती है और समाज की उन्नति के लिए उन शक्तियो का पूर्ण उपयोग होना चाहिए। ऐसा कहकर श्रम-विभाजन के वहाने वे कुछ लोगो को मानसिक श्रमवाले और कुछ लोगो को शारीरिक श्रमवाले वनाने की वात करते हैं और कहते है कि दोनो ही श्रमिक होने के कारण एक ही वर्ग मे शामिल हो सकते है। विनोवाजी के शब्दो में वे श्रमिक-वर्ग मे भी राहु और केतु के रूप मे वर्ग करते है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या मानसिक श्रमिक और शारीरिक श्रमिक के रूप मे दो वर्ग चलाने पर वर्गहीन समाज का उद्देश्य सिद्ध होगा? फिर तो मानसिक श्रमवाले शारीरिक श्रमवालो पर हुकूमत कर उनका शोषण ही करने लगेगे।

यह कैसी प्रगतिशीलता?

आश्चर्य की वात यह है कि जो लोग मानसिक श्रमिक और शारीरिक श्रमिक के रूप मे दो वर्ग रखना चाहते है, वे प्राचीन वर्ग-व्यवस्था के खिलाफ है। वे अपने को प्रगतिशील कहकर वर्णप्रथा को प्रतिक्रियावादी व्यवस्था कहते हैं। वस्तुत. अगर वौद्धिक श्रमिक तथा शारीरिक श्रमिक यानी व्राह्मण और शूद्र

रूपी दो वर्ग रखना है, तो समाज की उन्नति के लिए वर्ण-व्यवस्था ही ज्यादा व्यावहारिक है, क्योंकि अगर दो अलग ही वर्ग रखना है तो पैतृक गुण का लाभ समाज को क्यो न मिले ?

वे प्रकृति के नियम और विज्ञान की बात करते हैं। क्या उनके वैज्ञानिक प्राणितत्त्व मे ऐसी बात भी है कि कुछ लोगो का केवल मस्तिष्क बना है और कुछ का शरीर ? कुदरत ने मनुष्य को शरीर और मस्तिष्क, दोनों दिये हैं। उसने मानव को बौद्धिक तथा शारीरिक शक्ति दोनो से विभूपित किया है, इसलिए कि प्रत्येक मनुष्य दोनो को चलाकर प्रकृति मे से ही अपने को जिन्दा रखने का साधन निकाल ले और सृष्टि की रक्षा करता रहे। अगर मनुष्य इस नियम का उल्लघन कर अपने को मानसिक श्रमिक और शारीरिक श्रमिक मे विभाजित कर ले तो वह प्रकृति का विद्रोह करता है और प्रकृति इस द्रोह का प्रतिशोध लेकर ही रहेगी। आज हम दुनिया में जो वर्ग-विपमता का ज्वालामुखी देख रहे हैं, वह कोई खास बात नहीं है, वह प्रकृति द्वारा प्रतिशोध का प्रदर्शन-मात्र है। अतएव अगर हम समाज को स्थिर तथा शात देखना चाहते हैं, तो हमे वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति बुलद कर मानव-समाज से इस द्रोह का अन्त करना ही होगा।

भूदान यज्ञ और वर्ग-परिवर्तन

सत विनोबा द्वारा प्रवर्तित भूदान-यज्ञ वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति का एक महान तथा व्यावहारिक कदम है। वस्तुत आज भूमिहीन मजदूर अत्यन्त शोपित-वर्ग है और इसका शोपण इसलिए होता है कि उत्पादन का मूल साधन, भूमि, पूँजी के कब्जे मे है। भूमिपति, जिन्हो ने पूँजी लगाकर जमीन प्राप्त की है, श्रमिको के श्रम से लाभ उठाकर उच्च वर्ग यानी हुजूरवर्गीय बने हुए हैं। विनोबाजी, भूमि किसीकी सपत्ति नहीं है, यह सिद्धान्त बताकर

कहना चाहते हैं कि भूमि की उत्पादित सामग्री उन्हींके उपभोग में आनी चाहिए, जो उस पर श्रम करे। इस सिद्धान्त के अनुसार वे भूमिपतियों को भूमि पर श्रम कर अपने को मजदूर-वर्ग में परिवर्तित करके मजदूरों में विलीन होने को कहते हैं। भूमिदान कहता है कि जिनके पास अधिक भूमि है, वे जितने पर खुद अपने शरीर-श्रम से पैदा कर सकते हैं, उतनी अपने पास रखकर बाकी भूमि उनको दे दें, जो उस पर परिश्रम तो करते है, लेकिन जिनके पास भूमि नहीं है।

विनोबा की चेतावनी

विनोबाजी का भूमिपतियों से ऐसा करने को कहना कोई त्याग और मेहरबानी का आवाहन नहीं है। यह मानव-समाज की, देश की और उनकी निजी स्वार्थ-रक्षा के लिए एक सामयिक चेतावनी है। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है, आज की दुनिया में वर्ग-विषमता का संकट इस पराकाष्ठा पर पहुँच चुका है कि हुजूरों के बोझ से मजदूर दबकर मर रहे हैं और अत्यधिक तादाद हो जाने के कारण पोषण के अभाव से हुजूर सूखकर मर रहे हैं। यही हालत थोड़े दिन जारी रही, तो दोनों के मरने पर सृष्टिनाश यानी सर्वनाश हो जायगा। लेकिन प्रकृति यानी सृष्टि की मूल प्रवृत्ति आत्मरक्षा है, इसलिए वह अपने को मरने नहीं देगी और जिन्दा रहने के लिए कोई-न-कोई उपाय निकालेगी। यही कारण है कि आज का जमाना पुकार-पुकारकर वर्गहीन समाज की माँग कर रहा है। मैंने कहा है कि वर्गहीन समाज दो ही तरीके से कायम हो सकता है। मजदूर द्वारा हुजूरों का कत्ल या हुजूरों का मजदूर बनकर मजदूरों में विलीन होना। आज विनोबा महात्मा गांधी के विलीनीकरण के मंत्र से हुजूर-वर्ग को दीक्षित

करना चाहते हैं। अगर हुजूर घृणा, शान या क्रोध के कारण इस दीक्षा को इनकार करते हैं, तो वे देश और दुनिया और उनके साथ-साथ अपने को ज्वालामुखी के मुख पर ढकेलते हैं।

नौजवान आगे बढ़ें

वस्तुत: आज भारत के नौजवानों पर एक बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ी है। आज के युग ने एक महान् चुनौती दी है। इस चुनौती की बात को विनोबाजी देश भर में घूमकर लोगों तक पहुँचा रहे हैं। वह बात है कि क्या नौजवान वर्ग-विषमता के ज्वालामुखी को सामान्य प्रकृति के हाथ में छोड़कर, उसे प्रज्वलित होने देकर सृष्टिनाश यानी सर्वनाश होने देंगे या प्रकृति पर पुरुष के नियंत्रण से सर्वनाश को टालकर सर्वोदय की स्थापना करेंगे? यह तो स्पष्ट ही है कि वर्ग-विषमता का जो महान् संकट आज दुनिया में खड़ा है वह ज्यों-का-त्यों स्थिर नहीं रह सकता। वर्ग-संघर्ष या वर्ग-परिवर्तन किसी-न-किसी रूप में कोई-न-कोई आन्दोलन खड़ा होकर ही रहेगा। अगर जवान अपने पुरुषार्थ से इस चुनौती के जवाब में वर्ग-परिवर्तन की महान् क्रान्ति कर इस विषमता की आग को सहज में ही बुझा नहीं सकेंगे, तो पुरुष के पुरुषार्थ के अभाव में वर्ग-संघर्ष की जो आग पहले से ही सुलग चुकी है, प्रकृति देवी उसीको अपना सहारा बनाकर वर्ग-विषमता दूर करने की कोशिश करेगी। उससे विषमता की आग बुझने के बजाय और प्रज्वलित होकर संसार को सर्वनाश की ओर ले जायगी।

मुझे आशा ही नहीं बल्कि विश्वास है कि भारत के नौजवान अपनी काहिली और कायरता के कारण इस चुनौती को यों ही न जाने देंगे, बल्कि संत विनोबा द्वारा प्रवर्तित अहिंसक क्रान्ति में हजारों की तादाद में अपनी आहुति देकर अपनी पीढ़ी की शान और आन की रक्षा करेंगे।

प्रश्न—आपने वर्गविहीन समाज कायम करने के लिए जो दो तरीके वताये हैं, उसमें हिंसा के प्रति अन्याय किया है। आपने कहा है—"एक हिंसात्मक तरीका और दूसरा अहिंसात्मक क्रांति।" माना कि आप हिंसा को अवांछनीय मानते हैं, लेकिन वह क्रान्ति नहीं है, ऐसा कहना ज्यादती नहीं है क्या ?

उत्तर—आपके प्रश्न से ऐसा मालूम होता है कि आपने क्रांति किसे कहते हैं, इस पर गभीर विचार नहीं किया। क्राति का मतलव विध्वंस नहीं, वल्कि परिवर्तन है। एक व्यक्ति क्रान्ति करना चाहता है, इसका मतलव यह है कि वह लोगो की धारणा तथा मूल्यांकन मे परिवर्तन लाना चाहता है और जव वह समझता है कि लोगो मे परिवर्तन हो नहीं सकता तव वह कत्ल करता है, अर्थात् हिंसा अविश्वास का इजहार है। ऐसी अविश्वासी प्रवृत्ति से क्राति सध सकती है क्या ?

आप इतिहास के पन्नो मे देखेगे कि हिंसात्मक क्रांति के नाम से संसार मे जहॉ कहीं कुछ हुआ है, वहाँ और चाहे जो कुछ हुआ हो, क्रांति की सिद्धि नहीं हुई है, अर्थात् परिवर्तित समाज स्थापित नहीं हुआ है। कुछ लोगो ने हिंसा द्वारा दमन करके समाज को एक ढाँचे मे ढालने की कोशिश की और इस परिवर्तन को अनंतकाल तक दवाकर कायम रखने की चेष्टा की। तो आप कैसे कह सकते हैं कि समाज मे परिवर्तन हुआ ? अगर हिंसा द्वारा समाज मे कोई परिवर्तन हुआ दीखता है और उसे हिंसा द्वारा दवाकर ही कायम रखना पड़ता है, तो परिवर्तन

हुआ, ऐसा नहीं कह सकते। क्रांति की सिद्धि की पहचान परिवर्तित समाज के सहज छोडने पर ही हो सकती है। अगर परिवर्तित स्थिति अपने-आप स्थिर नहीं रह सकती, तो वह क्रांति नहीं, क्रांति की भ्रांति मात्र है।

आजकल चिकित्सा-शास्त्र मे डायबिटीज रोग का एक इलाज निकला है। रोगी को आजीवन प्रतिदिन इंजेक्शन लेना पड़ता है। एक दिन भी इंजेक्शन न ले, तो उसके शरीर की शक्कर उभड आती है, और इसे डाक्टर लोग इलाज कहते हैं। क्या आप कह सकते हैं कि वह रोगी रोगमुक्त हो गया? इसी तरह अगर लगातार गोली के निशाने पर समाज का मुँह एक दिशा में रखने की जरूरत पडे, तो क्या आप कह सकते हैं कि उसका मुँह उधर ही हो गया?

इसलिए मेरा कहना है कि अगर वास्तविक क्रांति करनी है, तो वह अहिंसा से ही सिद्ध हो सकती है, क्योंकि अहिंसा स्थायी रूप से मनुष्य की धारणा तथा समाज के मूल्यांकन मे परिवर्तन करती है।

प्रश्न—लेकिन आज हिंसा इतनी बढ़ रही है कि उसने गांधीजी को भी कत्ल कर दिया। सारे संसार में एटम बम इत्यादि शस्त्रों के बनाने की होड लगी हुई है। ऐसी स्थिति मे अहिंसा कैसे चलेगी?

उत्तर—इसीलिए तो आज अहिंसा चलनेवाली है। क्रांति का जन्म तभी होता है, जब संसार मे प्रतिक्रियावादी शक्ति पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। दूसरी ओर से क्रांतिकारी शक्ति का जन्म होते ही प्रतिक्रियावादी शक्ति आत्मरक्षा की अन्तिम चेष्टा मे अपनी शक्ति भर विराट रूप धारण करती है। कंस का

अत्याचार बढ़ने पर कृष्ण का जन्म हुआ और कृष्ण का जन्म लेते ही कंस का अत्याचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। लेकिन आपने देखा कि बालक कृष्ण को पालनेवाली यशोदा और गोकुलवासी, कंस के अत्याचार से किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हुए और विश्वास के साथ कृष्ण को मक्खन खिला-खिलाकर मजबूत किया। पुराण की कहानी मे कंस विनाशकारी शक्ति थी और कृष्ण क्रांतिकारी।

उसी प्रकार आज के युग मे हिंसा की विनाशकारी शक्ति को बढ़ते देख गांधीजी ने अहिसा की क्रांतिकारी शक्ति पैदा की। तभी से हिंसा के विकास की भी तेजी बढ़ी। इस हिंसा का विकास देखकर आपको घबड़ाना नहीं चाहिए, बल्कि गोकुलवासी की तरह विश्वास के साथ अपनी जिन्दगी और तपस्या से सींचकर इस क्रांतिकारी शक्ति को बढ़ाना चाहिए। फिर आप देखेंगे कि आज हिंसा चाहे जितना विराट् रूप धारण किये हुए हो, उसकी समाप्ति अवश्यम्भावी है। आज शान्ति के दूत के रूप मे पण्डित जवाहरलाल नेहरू का विश्व भर मे जो स्वागत हो रहा है, वह इसी दिशा का प्रतीक है।

प्रश्न—आपने वर्ग-परिवर्तन की बात की है; वर्ग-संघर्ष को कतई स्थान नही दिया है। इससे आपने सृष्टि के एक बुनियादी तत्त्व को ही इनकार किया है। आखिर वर्ग-संघर्ष भी तो अहिसक ढंग से किया जा सकता है। गांधीजी और विनोबाजी भी तो हमेशा सत्याग्रह की बात करते हैं। क्या यह संघर्ष का ही अहिंसक रूप नही है ?

उत्तर—मालूम होता है कि आप अभी भी रूढ़ विचार के बाहर नहीं निकल पा रहे है। नयी क्रांति की बात समझने के लिए स्वतंत्र विचार की आवश्यकता है। आखिर उद्देश्य क्या है ?

साम्य की प्रतिष्ठा या वर्ग-संघर्ष ? वस्तुतः कठिनाई यह है कि अधिकांश लोग अपने सामने गणेशजी जैसी एक मूर्ति रखकर अहिंसक क्रांति की आराधना करना चाहते हैं—यानी हिंसा के आधार पर जो धारणाएँ और मूल्यांकन रूढ हो चुके हैं, उसके सारे कलेवर को ज्यों-का-त्यों कायम रखते हुए उसके सिर से हिंसा काटकर अहिंसा रख देने मात्र में ही अहिंसक क्रांति की मूर्ति बन जाती है, ऐसा मानते हैं। लेकिन बात ऐसी नहीं है। अहिंसक क्रांति एक स्वतंत्र तथा मौलिक वस्तु है। आखिर अहिंसा में संघर्ष कहाँ ? अहिंसा के मूल में तो सहयोग ही है।

वस्तुतः यह समझना ही गलत है कि प्रकृति का मूल तत्त्व संघर्ष ही है। ऐसा समझना पश्चिमी एकांगी विचार के असर का नतीजा है। हाँ, इतना आप कह सकते हैं कि प्रकृति में संघर्ष भी है। लेकिन संघर्ष और सहयोग में सहयोग की ही प्रधानता है। प्रकृति के सारे हिस्से एक-दूसरे से बँधे हैं और उनमें सामंजस्य तथा संतुलन है। यह वस्तुस्थिति ही सहयोगिता का प्राधान्य साबित करती है। अगर संघर्ष की प्रधानता होती, तो सारी सृष्टि कब की बिखर गयी होती।

यह सही है कि अहिंसा के क्षेत्र में भी विचार-भेद होता है, लेकिन इस भेद से विचार-संघर्ष पैदा नहीं होता, बल्कि विचार-मंथन होता है। मंथन के नतीजे से आचार निर्दिष्ट होता है और सहयोग के आधार पर वह आचार मूर्तिमान होता है।

आपके प्रश्न से दीखता है कि गांधीजी या विनोबाजी के सत्याग्रह की बात पर आपने गहराई से सोचा नहीं है। इसलिए जरूरी है कि आपको सत्याग्रह और संघर्ष के बारे में स्पष्ट धारणा हो। सत्याग्रह का मतलब विरोध नहीं है। सत्य के लिए आग्रह ही सत्याग्रह है। हम इस सत्य को मानते हैं कि भूमि

उसके पास होनी चाहिए, जो उस पर परिश्रम करे। इस सत्य को स्थापित करने के लिए घर-घर भूमि माँगना सत्याग्रह है और निर्भय होकर अपने हक पर डटे रहना भी सत्याग्रह है। अगर कोई किसान बेदखल होता है और निर्भय होकर वह उस जमीन पर डटा रहता है, तो विरोध वह किसीका नहीं करता है। सिर्फ इतना ही करता है कि कापुरुष जैसा अपने हक को छोड़कर भाग नहीं जाता।

संघर्ष में दोनों पक्षों की ओर से वार होता है। सत्याग्रह में ऐसा नहीं होता। सत्याग्रही अपने सत्य-पक्ष पर स्थिर रहता है और दूसरे पक्ष के वार से दबने से इनकार मात्र करता है। यह संघर्ष नहीं, सत्याग्रह है। जो लोग अहिंसक क्रांति की बात सोचते हैं, उन्हें इस तत्त्व को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, अन्यथा वे अहिंसा का नाम लेते रहेंगे, लेकिन पुरानी धारणाओं के कारण अपने काम में दिग्भ्रष्ट होकर प्रच्छन्न हिंसा की ओर बहकेंगे। अन्ततोगत्वा वे विफलता के गर्त में गिरेंगे और परिस्थिति को प्रतिक्रांतिकारी शक्ति के हाथ में सौंप देंगे।

प्रश्न—भूमिदान-यज्ञ से भूमि का बँटवारा हो जायगा, यह तो समझ में आता है, लेकिन आज जो बड़े-बड़े पूँजीपतियों के पास संपत्ति पड़ी है, उसका बँटवारा कैसे होगा और उनके लिए आप कौन-सा कार्यक्रम और आन्दोलन चलाना चाहते हैं?

उत्तर—इसीके लिए तो विनोबाजी ने संपत्ति-दान की बात शुरू की है। कोई भी व्यावहारिक क्रान्तिकारी एक-एक करके कदम उठाता है। विनोबाजी ने पहले भूमिदान-यज्ञ-आन्दोलन शुरू किया। जब उन्हें मालूम हो गया कि भूमिदान-यज्ञ का पैर जम गया, तो संपत्तिदान की बात की और अब इस पर जोर भी देने लगे हैं। यह सही है कि अभी आमदनी का ही छठा हिस्सा

माँगा जा रहा है, लेकिन विनोबाजी हमेशा कहते हैं कि उनकी यह माँग पहली किस्त की माँग है। उन्हींके शब्दों में कहें, तो वे संपत्ति के अन्दर एक फच्चर ठोक देना चाहते हैं। क्रमशः आपको मूल पूँजी का दान भी माँगना होगा।

दूसरी ओर वे भूमिदान-यज्ञ और केन्द्रित-उद्योग-बहिष्कार को सीता-राम की तरह अभिन्न मानते हैं। भूमि-वितरण-आंदोलन के तरीके में और संपत्ति-वितरण-आंदोलन के तरीके में फर्क है। अगर किसी राजा से सारी जमीन मिल जाय, तो उसे खंडित कर उत्पादकों में बाँटा जा सकता है, लेकिन पूँजीपति से अगर सारा-का-सारा कारखाना मिल जाय, तो उसके टुकड़े करके बाँटा नहीं जा सकता। इसलिए इस दिशा में दोरुखा आंदोलन चलाना पड़ेगा। एक ओर से संपत्तिवान तथा पूँजीपतियों से संपत्ति और पूंजी का दान माँगना होगा और दूसरी ओर से केन्द्रित-उद्योग के बहिष्कार और ग्रामोद्योग के संगठन का आंदोलन चलाकर उद्योगों को विकेंद्रित करना होगा। देश के विकेंद्रित उद्योगीकरण के बाद लोगों के पास जो पूँजी एकत्रित हुई है, वह अनुत्पादक होकर खत्म हो जायगी। संपत्तिदान-यज्ञ से इस प्रकार की पूँजी के खत्म होने की प्रक्रिया में वेग आयगा।

यह सही है कि कुछ ऐसे उद्योग रह जायँगे, जिन्हें केन्द्रित ढंग से ही चलाया जा सकता है। ऐसे उद्योग पूँजी-निरपेक्ष नहीं हो सकेंगे। ऐसे उद्योगों को श्रमिकों की सहकारी समिति के हाथ में सौंपना होगा। संपत्तिदान-यज्ञ का आन्दोलन आगे बढ़ने पर आपको पूरा-का-पूरा कारखाना भी मिलेगा। और जैसे पूरा-का-पूरा गाँव मिलने पर उसकी व्यवस्था हम अपने आदर्श के अनुसार चलाने की कोशिश करते हैं, उसी तरह पूरा-

का-पूरा कारखाना मिलने पर उसे सामूहिक रूप से श्रमिकों द्वारा चलवाने का प्रयोग भी करेंगे और क्रमशः सारे अनिवार्य केंद्रित उद्योगों को श्रमिकों के हाथ में सौंप देने का आंदोलन चलायेंगे। ये सब कार्यक्रम संपत्तिदान-यज्ञ के अन्तर्गत हैं।

पुरानी धारणा के अनुसार आप कह सकते हैं कि ये सरकार के हाथ में क्यों न जायें। लेकिन अगर आपको शासनहीन समाज कायम करना है तो सारा कार्यक्रम उसी दिशा में होना चाहिए। हमको दंड-शक्ति को क्षीण करने की बात सोचनी चाहिए, न कि उसे मजबूत करने की। वर्षों से देश के नेता शासन और न्याय-विभाग को अलग करने का आन्दोलन कर रहे हैं। हम ऐसा क्यों चाहते हैं? इसलिए कि हमारी राय में अगर शासन और न्याय एक ही हाथ में रहेगा, तो न्यायशक्ति को शासन के क्षेत्र में इस्तेमाल किया जायगा। इसी तरह अगर हम दमन का साधन और उत्पादन का साधन एक ही हाथ में रखेंगे, तो उत्पादन को दमन के काम में लाकर दंड-शक्ति अपने को मजबूत बनाने की कोशिश करेगी। यही कारण है कि हम अनिवार्य केंद्रित उद्योगों को भी सरकार के हाथ में न रखकर जनता द्वारा चालित स्वतंत्र और सामूहिक संस्था के हाथ में सौंपना चाहते हैं।

प्रश्न—पश्चिमी औद्योगिक मुल्कों में भी विकेंद्रीकरण की बात की जा रही है, तो उसमें और सर्वोदयी विकेंद्रीकरण में क्या फर्क है?

उत्तर—पश्चिम में जो विकेंद्रीकरण की बात करते हैं, उसमें उत्पादन की पद्धति बदलने की बात नहीं है। वे पूँजीवादी पद्धति को बदलकर श्रमवादी पद्धति नहीं कायम करना चाहते। उनका

माध्यम बने, अन्यथा प्रत्येक मनुष्य पूर्ण रूप से शिक्षित हो ही नहीं सकता।

मानव-समाज में जितने कार्यक्रम हैं, वे मुख्यतः तीन हिस्सों में बाँटे जा सकते हैं :

(१) उत्पादन की प्रक्रिया,
(२) समाज-व्यवस्था,
(३) प्रकृति के साधनों की खोज।

प्रत्येक मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक इन तीन कार्यक्रमों में से किसी-न-किसी कार्यक्रम में लगा रहता है। यही कारण है कि गांधीजी ने इन तीनों कार्यक्रमों को शिक्षा का माध्यम माना है और यह कहा है कि शिक्षा की अवधि जन्म से मृत्यु तक होती है।

पहले उत्पादन की प्रक्रिया को लीजिये। उत्पादन के दो हिस्से हैं—कृषि और उद्योग। कृषि का काम शिक्षा के सभी स्तरों के माध्यम के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है, लेकिन जैसा कि मैंने कहा है, सर्वोदय समाज में उद्योगों के तीन प्रकार होंगे—गृह-उद्योग, ग्राम-उद्योग और राष्ट्र-उद्योग।

गृह-उद्योग की प्रक्रिया बुनियादी दर्जों के लिए माध्यम होगी। ग्राम-उद्योग की प्रक्रिया उत्तर बुनियाद के लिए और राष्ट्र-उद्योग की प्रक्रिया उत्तम बुनियादी यानी विश्वविद्यालय के दर्जों के लिए माध्यम रहेगी। इस प्रकार उद्योग के सभी प्रकार शिक्षा के माध्यम के रूप में शिक्षण-संस्थाओं के मातहत हो जायँगे। फिर आज जो एक बहस चलती रहती है कि केन्द्रित उद्योग सरकार के हाथ में या व्यक्तिगत पूँजीपति के हाथ में या स्वतन्त्र संस्था के हाथ में रहेगा, वह खतम हो जायगी। वह

किसीके हाथ में नहीं रहेगा। वह शिक्षण-प्रक्रिया का अंग होकर चलता रहेगा।

सामाजिक वातावरण का माध्यम इस प्रकार से इस्तेमाल किया जा सकेगा—पुरानी तालीम में शिक्षक छात्रों को घर के लिए सबक दिया करते हैं, उसी तरह समाज-व्यवस्था, सर्वे आदि के विषय में नयी तालीम के विद्यार्थियों को घर के लिए सबक देना होगा। विभिन्न कक्षाओं के लिए हलके और कठिन तरह-तरह के सबक होंगे और उनके माध्यम से विभिन्न विषयों की जानकारी करायी जायगी। इस प्रकार समाज-व्यवस्था भी जब शिक्षण के माध्यम के रूप में इस्तेमाल होगी, तब संचालित समाज के स्थान पर स्वावलम्बी समाज सहज ही चल सकेगा। उस समय ग्राम-पंचायत गाँव की संचालिका न होकर शिक्षार्थियों के शिक्षक के रूप में रहेगी।

उसी तरह प्राकृतिक साधनों की खोज के कार्यक्रम भी योजनापूर्वक शिक्षा के माध्यम के रूप में इस्तेमाल करने होंगे।

यह योजना की सामान्य रूपरेखा है। अधिक ब्यौरे के लिए आपको प्रत्यक्ष कार्य में लगना होगा।



हमारा सर्वोदय-साहित्य

(विनोबा)

त्रिवेणी ||)
सर्वोदय की ओर |)
भूदान-प्रश्नोत्तरी ≡)
विनोबा-प्रवचन (संकलन) |||)
पाटलिपुत्र में विनोबा (संकलन) |–)
भगवान् के दरबार में =)
साहित्यिकों से ||)

(धीरेन्द्र मजूमदार)

शासन-मुक्त समाज की ओर |=)
आजादी का खतरा |–)
बापू की खादी ||)
क्रांतिकारी चरखा |–)
युग की महान् चुनौती |)
नयी तालीम ||)
स्वराज्य की समस्या ||)
ग्राम्य आन्दोलन की दृष्टि और योजना ≡)
ग्रामराज |–)

(श्रीकृष्णदास जाजू)

संपत्तिदान यज्ञ |)
व्यवहार-शुद्धि |=)

अ० भा० चरखा संघ का इतिहास ३||)
चरखा-संघ का नव-संस्करण १||)
चरखे की तात्त्विक मीमांसा १)

(दादा धर्माधिकारी)

मानवीय क्रांति |)
क्रांति का अगला कदम |)
साम्ययोग की राह पर |)

(अन्य लेखक)

सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र |)
विनोबा के साथ १)
पावन प्रसंग |=)
भूदान-आरोहण ||)
गो-सेवा की विचारधारा |=)
श्रम-दान |)
भूदान-यज्ञ (नाटक) १)
सामाजिक क्रान्ति और भूदान (प्रेस में)
संत विनोबा की उत्तरभारत यात्रा १|)
भूदान-दीपिका =)
साम्ययोग का रेखाचित्र =)
धरती के गीत =)
भूदान-यज्ञ गीत-संग्रह –)

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी ○ मगनवाड़ी, वर्धा